



# अध्याय : तीन

## अध्याय : तीन

### परंपरा का मूल्यांकन और 'आलोचना' पत्रिका

#### 3.1 परंपरा के मूल्यांकन संबंधी अध्ययन की दशा और दिशा

हिंदी आलोचना की प्रमुख बहसों में 'परंपरा के मूल्यांकन' को सबसे ज्वलंत एवं विचारोत्तेजक बहस के रूप में देखा जा सकता है। इसका प्रमाण डॉ० रामविलास शर्मा के 'परंपरा का मूल्यांकन' नामक पुस्तक में देखा जा सकता है। वहीं दूसरी तरफ, डॉ० नामवर सिंह की महत्वपूर्ण पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है।

हिंदी आलोचना में अपनी परंपरा के अन्वेषण की प्रवृत्ति उसके आविर्भाव से ही दिखाई पड़ने लगती है किंतु 'परंपरा के मूल्यांकन' संबंधी इसे प्रारंभिक प्रवृत्ति को मार्क्सवादी आलोचना के प्रादुर्भाव ने तीव्रता प्रदान की। ज्ञातव्य है कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना का सूत्रपात 1935-36 में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ (लंदन और लखनऊ) की स्थापना के बाद ही व्यवस्थित ढंग से होता है।<sup>1</sup> किंतु इसके घोषणा-पत्र में कुछ ऐसी मान्यताएँ थीं, जिनमें यह कहा गया था कि 'भारतीय साहित्य पुरानी सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद से, जीवन की यथार्थताओं से भागकर उपासना और भक्ति की शरण में जा छुपा है। नतीजा यह हुआ है वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप में भी और अर्थ में भी। आज हमारे साहित्य में भक्ति और वैराग्य की भरमार हो गई है। भावुकता का ही प्रदर्शन हो रहा है, विचार और बुद्धि का एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया गया है। पिछली दो सदियों में विशेषकर इसी तरह का साहित्य रचा गया है, जो हमारे साहित्य का लज्जास्पद काल है।'<sup>2</sup> इस मत ने यह ध्वनित किया कि प्रगतिशील लेखक संघ अपनी परंपराओं का निषेध करता है। इसके अतिरिक्त इसी घोषणा-पत्र की मान्यताओं से प्रेरित होकर और मार्क्सवादी सिद्धांतों को लागू करते हुए शिवदान सिंह चौहान ने 1936-37 ई. में 'भारत में प्रगतिशील साहित्य

की आवश्यकता' शीर्षक महत्वपूर्ण लेख लिखा। प्रगतिशील लेखक संघ की घोषणा-पत्र के अंश और शिवदान सिंह चौहान के लेख के कुछ अंशों में अपनी परंपरा के प्रति घोर आलोचनात्मक मानदंड अपनाया गया था। घोषणा-पत्र और उक्त लेख में व्यक्त परंपरा संबंधी, साहित्य के इतिहास संबंधी मान्यताओं को लेकर कटु आलोचना हुई। इन परंपरा संबंधी सरलीकृत एवं यांत्रिक मान्यताओं की तीव्र आलोचना के कारण उनके अन्य महत्वपूर्ण पक्षों की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया।

बावजूद इसके इस सामग्री ने "हिंदी आलोचना में परंपरा के विषय में एक ऐसे गंभीर बहस की शुरूआत कर दी जो आज सदी के बदल जाने के बाद भी जारी है।"<sup>3</sup> हिंदी आलोचना की प्रगतिशील आलोचना द्वारा इस महत्वपूर्ण मुद्दे को न सिर्फ शुरूआत के लिए उठाया गया बल्कि बाकायदे एक गंभीर बहस भी चलाई गई कि अपनी 'परंपरा का मूल्यांकन' कैसे किया जाए? ध्यान देने की बात है कि प्रगतिशील लेखक संघ का घोषणा-पत्र और उक्त लेख के पूर्व अपनी परंपरा को लेकर इस प्रकार के प्रश्न खड़े तो हुए, उनसे अपनी 'जातीय स्मृति' की पहचान की बात भी उठी थी, जिसमें कभी कहा गया था कि 'हम कौन थे, क्या थे, क्या हो गए हैं? अतः अपने इतिहास एवं परंपरा का तो स्पष्ट बोध था। उसकी खोज का प्रश्न अपनी परंपरा की जातीय स्मृति से गहरा संबंध जोड़कर उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू हुआ। विशेषकर 1850 ई. के बाद इस परंपरा की खोज का प्रश्न बड़ी गंभीरता से उठाया गया। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपनी 'अस्मिता की पहचान के लिए औपनिवेशिक शासन सत्ता तथा औपनिवेशिक सांस्कृतिक नीति के बरक्स जिस, 'परंपरा की खोज' हुई, बीसवीं शताब्दी में आकर उसके मूल्यांकन का प्रश्न खड़ा हुआ। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने न सिर्फ अपनी 'परंपरा की खोज' की बल्कि 'परंपरा मूल्यांकन' में अपनी महत्वपूर्ण भागीदारी भी दी। जिसकी स्वाभाविक परिणति आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित पत्रिका 'सरस्वती'<sup>4</sup> और आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' है, जिसमें शुक्लजी ने भक्तिकाल, तुलसीदास, जायसी, और सूरदास

को अपनी परंपरा का महत्वपूर्ण स्तम्भ बताया और भारतेंदु युग की महत्ता का प्रतिपादन भी किया।

किंतु मार्क्सवादी चिंतन-पद्धति में जिस वैज्ञानिक चिंतन एवं भौतिकवादी पद्धति, समाजवादी समाज की बात की गई थी उसके सम्मुख परंपरा के मूल्यांकन का प्रश्न नए सिरे से खड़ा हुआ। मार्क्सवादी चिंतन और उसकी मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में 'परंपरा के मूल्यांकन का प्रश्न अन्य उद्देश्यों से युक्त था। जिसमें से महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि 'समाजवादी व्यवस्था में परंपरा का क्या स्थान है? समाजवादी व्यवस्था में अपने प्राचीन अतीत, और उससे निसृत मूल्यों को किस रूप में देखा जाएगा? उस व्यवस्था उन परंपराओं, मूल्यों का कोई महत्व रहेगा या नहीं जो सामंती समाज अथवा पूँजीवादी समाज की देन रही है?? इसके अतिरिक्त पुराने समाज की परंपराओं और मान्यताओं का कोई प्रगतिशील पक्ष भी होता है अथवा नहीं?? ये प्रश्न आरंभिक मार्क्सवादी चिंतकों-आलोचकों के बीच गंभीर मुद्दों के रूप में उपस्थित हुए, जिन पर जमकर बहस हुई और जिन्हें 'परंपरा के मूल्यांकन' के संबंधी बहस के रूप चिह्नित किया जाता है। चूँकि परंपरा के मूल्यांकन के प्रश्न-संबंधी बहस मार्क्सवादी चिंतकों के बीच सैद्धांतिक बहस के रूप में उठाई गई थी, अतः इस प्रश्न को प्रायः मार्क्सवादी चिंतकों समीक्षकों के बीच उठे विवाद से ही संबद्ध करके देखा जाता है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि 'परंपरा के मूल्यांकन' का प्रश्न जिस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षकों-चिंतकों के बीच उठा था, उस पर बहस भी इन्हीं चिंतकों ने बड़ी गंभीरता से की है। नामवर सिंह के शब्दों में कहा जा सकता है कि "हिंदी में यह उल्लेखनीय बात है कि इस परंपरा को खोजने ढूँढने और उससे अपने आपको जोड़ने का काम गैर-मार्क्सवादी आलोचकों की अपेक्षा मार्क्सवादी आलोचकों ने ज़्यादा किया है। इसका श्रेय सबसे ज़्यादा डॉ० रामविलास शर्मा को दिया जाना चाहिए।"<sup>5</sup>

इस प्रकार स्पष्ट है कि मार्क्सवादी चिंतन और "प्रगतिवादी आलोचना के आगे सबसे पहला और महत्वपूर्ण सवाल यही था कि अपनी सांस्कृतिक-साहित्यिक विरासत के प्रति इस आलोचना का

क्या सुलूक होना चाहिए??”<sup>6</sup> अतः मार्क्सवादी चिंतन एवं दर्शन के संदर्भ में ‘परंपरा के मूल्यांकन’ संबंधी बहस की वस्तुस्थिति को स्पष्ट कराते हुए मधुरेश लिखते हैं कि ‘पाँचवें और छठे दशकों में परंपरा के मूल्यांकन का सवाल हिंदी की प्रगतिवादी आलोचना का सबसे जटिल सवाल था। इस मुद्दे पर आलोचकों की दृष्टि बहुत साफ न होने से हिंदी की प्रगतिवादी आलोचना की प्रकृति शुरू से कुछ अधिक पोलेमिकल बनती गई। तुलसीदास और आचार्य शुक्ल विशेष रूप से इस लंबी धारावाहिक बहस के केंद्र में दिखाई देते हैं। चूँकि ‘कबीर’ और ‘हिंदी साहित्य की भूमिका’ में हजारीप्रसाद द्विवेदी शुक्ल जी की सामान्य पद्धति और अनेक निष्कर्षों से अपनी असहमति प्रकट कर चुके थे, रामविलास शर्मा शुक्लजी के समर्थन में द्विवेदीजी की अनेक स्थापनाओं का भी उग्र विरोध करते हैं। आगे चलकर नामवर सिंह और द्विवेदीजी के अनेक शिष्यों-समर्थकों द्वारा उनके समर्थन के कारण जैसे आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दो परस्पर शिविरों में बँट जाते हैं। यह विवाद नामवर सिंह की ‘दूसरी परंपरा की खोज’ (1982 ई.) और रामविलास शर्मा की ‘लोकजागरण और हिंदी साहित्य (1984) और ‘हिंदी जाति का इतिहास’ (1986)”<sup>7</sup> और उसके आगे भी दिखाई पड़ता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि “साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन की समस्या आलोचना की महत्वपूर्ण समस्या है।... मार्क्सवादी आलोचना के लिए वह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।”<sup>8</sup> डॉ० रामविलास शर्मा ‘परंपरा के मूल्यांकन’ को ‘ऐतिहासिक भौतिकवाद’ और ‘समाजवादी व्यवस्था’ के संदर्भ में व्याख्यायित करते हैं और अपनी पुस्तक ‘परंपरा के मूल्यांकन’ में स्पष्ट करते हैं कि “जो महत्व ऐतिहासिक भौतिकवादी के लिए इतिहास का है वही आलोचना के लिए साहित्य की परंपरा का है। इतिहास के ज्ञान से ही ऐतिहासिक भौतिकवाद का विकास होता है, साहित्य की परंपरा के ज्ञान से ही प्रगतिशील आलोचना का विकास होता है।”<sup>9</sup> साहित्य की परंपरा के ज्ञान से “साहित्य की धारा मोड़ी जा सकती है और नए प्रगतिशील साहित्य का निर्माण किया जा सकता है।”<sup>10</sup> इस प्रकार “प्रगतिशील आलोचना किन्हीं अमूर्त सिद्धांतों का संकलन नहीं है, वह साहित्य

की परंपरा का मूर्तज्ञान है। और यह ज्ञान उतना ही विकासमान है जितना साहित्य की परंपरा।<sup>11</sup> साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन के महत्व को रेखांकित करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं कि “किसी भी बहुजातीय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की ऐसी निर्णायक भूमिका नहीं रही, जैसी इस देश में व्यास और वाल्मीकि की है। इसलिए किसी भी देश के लिए साहित्य की परंपरा का मूल्यांकन उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना इस देश के लिए।<sup>12</sup>”

साहित्य की ‘परंपरा का मूल्यांकन’ न केवल हिंदी साहित्य के संदर्भ में महत्वपूर्ण है बल्कि संपूर्ण भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन होना चाहिए। डॉ० रामविलास शर्मा संस्कृति और परंपरा का समाजवादी व्यवस्था में स्वरूप क्या होगा इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि “यदि समाजवादी व्यवस्था कायम होने पर जारशाही रूस नवीन राष्ट्र के रूप में पुनर्गठित हो सकता है, तो भारत में समाजवादी व्यवस्था कायम होने पर यहाँ की राष्ट्रीय अस्मिता पहले से कितना पुष्ट होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। वास्तव में समाजवाद हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता है।... भारत की राष्ट्रीय क्षमता का पूर्ण विकास समाजवादी व्यवस्था में ही संभव है और साहित्य की पूर्ण परंपरा का ज्ञान समाजवादी व्यवस्था में ही संभव है। समाजवादी संस्कृति पुरानी संस्कृति से नाता नहीं तोड़ती, वह उसे आत्मसात करके आगे बढ़ती है।<sup>13</sup>” इस प्रकार डॉ० रामविलास शर्मा ने हिंदी आलोचना में परंपरा के मूल्यांकन का स्वरूप स्पष्ट किया और “इस दिशा में सारे मार्क्सवादी आलोचकों ने मिलकर भी इतना काम नहीं किया जितना उन्होंने अकेले ही किया है। उन्होंने भवभूति, कालिदास, तुलसीदास सहित आधुनिक काल के भी अनेक लेखकों का स्वतंत्र मूल्यांकन करके परंपरा के प्रति मार्क्सवादी आलोचना का रवैया स्पष्ट किया। वस्तुतः यही उनकी आलोचना का विचारधारात्मक संघर्ष है।<sup>14</sup>”

ध्यान देने की बात है कि अपने आरंभिक दौर में मार्क्सवादी आलोचकों में परंपरा के मूल्यांकन को लेकर एक गंभीर विवाद का मुद्दा यह भी बना कि मार्क्सवादी चिंतन और अयध

धारणाओं को अपनी परंपरा के मूल्यांकन में किस प्रकार प्रयोग किया जाए?? इस संदर्भ में कुछ मार्क्सवादी चिंतकों ने आरंभ में यह धारणा बना ली थी कि “प्राचीन साहित्य शोषक वर्गों के हित में उनके चाकरों द्वारा रचा हुआ है, इसलिए त्याज्य है, साहित्य समाज का दर्पण है, इसलिए पुरानी व्यवस्था बदल जाने पर वह दर्पण भी बेकार हो जाएगा, सर्वहारा वर्ग के लेखक नया साहित्य रचेंगे जिसमें पुराने मूल्यों का अभाव होगा; इन लेखकों की दृष्टि साहित्य कलात्मक सौंदर्य में भी प्राचीन साहित्य से आगे होगा।”<sup>15</sup> इस प्रकार कुछ आरंभिक मार्क्सवादी चिंतकों ने मार्क्सवादी चिंतन को ज्यों का त्यों यांत्रिक विधि से लागू करते हुए प्राचीन साहित्य को प्रतिक्रियावादी साहित्य घोषित किया। इस संदर्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि शिवदान सिंह चौहान के लेख ‘भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता’ के कुछ अंशों में यांत्रिकता आ गई है। यद्यपि उन्होंने बाद में इस लेख को स्वयं अस्वीकृत कर दिया। रामविलास शर्मा ने ‘परंपरा के मूल्यांकन’ के संदर्भ में यांत्रिक रूप से लागू किए गए सिद्धांतों और उनकी सीमाओं को उजागर किया और उनकी कड़ी प्रतिक्रिया लिखी। और प्राचीन साहित्य की प्रगतिशील परंपरा का बोध कराया उसके गौरवपूर्ण अतीत से परिचित कराया। उसके प्रगतिशील पक्षों को स्पष्ट किया और और ‘हिंदी की जातीय परंपरा’ से उसे जोड़ा। किंतु परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में “वे कदाचित इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि बड़े-से-बड़े लेखक के भी अपने अंतर्विरोध होते हैं और उनके बीच और बावजूद इसके वह बड़ा और युगांतरकारी लेखक हो सकता है। रामविलास शर्मा के विवेचन की पद्धति भी प्रायः ही यांत्रिक और एकांगी हो जाती है क्योंकि विरोध पक्ष को या तो वे अपने हित में अनदेखा करते हैं या फिर उसके तर्कों और आशयों को वे प्रायः ही तोड़-मोड़ ओर विकृत करके प्रस्तुत करते हैं।”<sup>16</sup> स्पष्ट है कि ‘परंपरा के मूल्यांकन’ के संदर्भ में मार्क्सवादी आलोचना के आरंभिक चरण में कुछ आलोचकों ने यांत्रिक मान्यताओं का प्रयोग किया तो कुछ आलोचकों ने अतीत और उसके महान रचनाकारों के सिर्फ प्रगतिशील पक्ष को ही प्रकट किया उनके अंतर्विरोधों को नज़रअंदाज़ किया।

### 3.2 परंपरा के मूल्यांकन में 'आलोचना' पत्रिका की भूमिका

इस संदर्भ में हमें यह देखना है कि नामवर सिंह के संपादन में प्रकाशित 'आलोचना' पत्रिका साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन को किस रूप में लेकर चली है? 'परंपरा का मूल्यांकन' से 'आलोचना' पत्रिका का तात्पर्य क्या है?? नामवर सिंह संस्कृति और साहित्य की परंपरा को किस दृष्टि से देखते हैं? और संपादक होने के नाते उन्होंने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से परंपरा के मूल्यांकन के परिप्रक्ष्य में किस दृष्टि का विस्तार किया है? वस्तुतः इस अध्याय में हमें यह देखना है कि 'आलोचना' पत्रिका की साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन की अवधारणा क्या है? उसकी नीति क्या है?? और साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन में उसने अपनी अवधारणा का विकास किस रूप में किया है? तथा हिंदी आलोचना के विकास के संदर्भ में परंपरा के मूल्यांकन संबंधी उस अवधारणा का प्रदेय क्या है? इन्हीं कुछ प्रश्नों के उत्तर ढूँढने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य की परंपरा का महत्व सभी के लिए समान ही होता है, अंतर यह है कि अपनी परंपरा को कोई किस दृष्टि से देखने का प्रयास कर रहा है। यह भी महत्वपूर्ण है कि परंपरा का मूल्यांकन सदा ही एक दृष्टि से नहीं होता है, संदर्भों के सापेक्ष परंपरा का अर्थ, मूल्य तथा उसके प्रतिमान बदलते रहते हैं। परिस्थितियाँ, समय एवं चिंतन की दिशा बदलने से परंपरा का अर्थ वही नहीं रह जाता, जो कभी किसी काल विशेष के संदर्भों में ग्रहण किया जाता रहा है।

ध्यातव्य है कि परंपरा का मूल्यांकन हिंदी समीक्षा के संदर्भ में उठाया जानेवाला एक महत्वपूर्ण सवाल है। "और इसका अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि पिछले कुछ वर्षों में हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के दो आचार्यों के बीच धुआँधार बहस के केंद्र में परंपरा रही है।"<sup>17</sup> बहस के केंद्र में 'परंपरा' के होने के पीछे पाँचवें और छठे दशक की परिस्थितियाँ न होकर नई परिस्थितियाँ और समस्याएँ रही हैं और 'परंपरा के मूल्यांकन' के संबंध में वे ही मान्यताएँ,



पद्धतियाँ अथवा आधार भूमि नहीं रही है जो पाँचवें और छठे दशक के बीच विद्यमान थी। यहाँ परंपरा के मूल्यांकन का न सिर्फ संदर्भ बदला है, बल्कि परंपरा को लेकर अन्य कोटियों का विनिर्माण हुआ है। परंपरा या सांस्कृतिक विरासत के मूल्यांकन के परिप्रेक्ष्य के अन्य आयामों का उद्घाटन हुआ है साथ ही परंपरा को हस्तगत करने की कोशिश और उसमें परंपरावाद का जड़ अर्थ भरने की कोशिश से 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में कई परिवर्तन हुए हैं। स्पष्ट है कि 'आलोचना' पत्रिका के 'परंपरा के मूल्यांकन' संबंधी मानदंड और स्वरूप भी पाँचवें और छठे दशक की परंपरा के मूल्यांकन संबंधी अवधारणा और मान्यता से भिन्न रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि परंपरा और सांस्कृतिक विरासत के प्रति जो भाव किसी में हो सकता है सातवे-आठवें दशक के मार्क्सवादी चिंतकों में उससे वह किसी मायने में कम नहीं है, बल्कि कई स्तरों पर कहीं अधिक गहरा है। अपनी परंपरा में निबद्ध मानवीय स्तरों के अन्य आयामों का उद्घाटन करते हुए, उन पक्षों के लिए लड़ते हुए संघर्ष करते हुए, उन्हें देखा जा सकता है।

परंपरा के मूल्यांकन संबंधी बहस 'आलोचना' पत्रिका के समक्ष नए प्रश्न लेकर उपस्थित होती है। यह बहस अपना कौन-सा रूप ग्रहण कर रही थी, इस संदर्भ में शिवकुमार मिश्र का यह मत उद्धरणीय है कि "आज जबकि एक ओर पुराणपंथी-पुनरुत्थानवादी ताकतें परंपरा-प्रेम के नाम पर समय तथा इतिहास के अग्रगामी चरणों का निषेध करते हुए पूरी तरह अतीत में लौटा ले जाने को तत्पर हैं, और दूसरी ओर अस्तित्ववादी-आधुनिकतावादी कलादृष्टियाँ परंपरा तथा इतिहास को पूरी तरह अमान्य करते हुए हमें न केवल अपने गत से वरन् आगत से भी काटकर, एक अभिशप्त नियति लिए हुए मात्र वर्तमान में ही जीने अथवा मौत के आतंक में जीने का दर्शन दे रही है तथा साहित्य और कला-सर्जना में अपने गहरे निशान छोड़ रही है।"<sup>18</sup> दूसरी तरफ मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा परंपरा के मूल्यांकन संबंधी दृष्टि की गलतियों को रेखांकित करते हुए शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि "अब देखिए इस दृष्टि की व्यावहारिक प्रस्तुति में होनेवाली हमारी गलतियों को, कि हमने

या तो गोस्वामी तुलसीदास को इस नाते कि वे सामंती समाज, सामंती युग की अधिरचना से जुड़े हुए हैं, अपने समय के समाज के प्रभुवर्ग की विचारधारा के प्रतिनिधि हैं, हमने शत-शत प्रतिगामी करार दिया या फिर उनकी जन-संपृक्ति के कारण, सामंती समाज के अंतर्विरोधों से टकराते हुए उनके जहाँ-जहाँ उसका अतिक्रमण करने के कारण और भक्ति आंदोलन की मुख्य धारा से जुड़े उनके तमाम सरोकारों के कारण उन्हें एकदम प्रगतिशील सामंत विरोधी जनवादी आदि सिद्ध किया।<sup>19</sup> इस तरह की दृष्टि इतिहास के प्रति पूज्य भाववाली इतिहास दृष्टि ही है, प्रकारांतर से यह इतिहास विरोधी दृष्टि है। इसीलिए 'आलोचना' के नवांक 60-61 में प्रकाशित अपने लेख में शिवकुमार मिश्र स्पष्ट करते हैं कि इसीलिए "ज़रूरी हो जाता है कि इन पतनशील इतिहास-विरोधी, विज्ञान विरोधी, मनुष्य विरोधी जीवन दृष्टियों तथा कलादृष्टियों का विरोध करते हुए उनसे संघर्ष करती हुई तथा साहित्य रचना और साहित्य समीक्षा की गौरवशाली जीवंत परंपरा को विकसित और पुष्ट करने के लिए कृतसंकल्प रचनाकारों-विचारकों की जागरूक नई पीढ़ी को ऐसे सवालियों के प्रति मुखातिब किया जाए जो उसे प्रतिगामी-प्रतिक्रियावादी शक्तियों से कारगर तरीके से निपटने में मदद दे सकें और उसके सामने 'परंपरा की सही छवि' को बराबर आलोकित किए रहें।"<sup>20</sup>

ध्यान देने की बात है कि नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में न केवल अपनी मूल्यवान सांस्कृतिक विरासत की सही छवि को बराबर आलोकित करती रही है, बल्कि अपनी सांस्कृतिक विरासत की प्रतिगामी, प्रतिक्रियावादी ताकतों के संगठित अभियान से रक्षा की है तथा उसने 'गौरवशाली जीवंत परंपरा को विकसित और पुष्ट करने के लिए कृत संकल्प रचनाकारों-विचारकों की जागरूक नई पीढ़ी' को तैयार भी किया है।

नामवर सिंह की दृष्टि में 'परंपरा का मूल्यांकन' का क्या अर्थ है उसे अपने एक साक्षात्कार में वे स्पष्ट करते हैं "अपनी अस्मिता और अपनी जड़ों की खोज करते हुए परंपरा के प्रति आलोचनात्मक रुख से परिचित होना चाहिए।"<sup>21</sup> इसके अतिरिक्त वह स्पष्ट करते हैं परंपरा के

मूल्यांकन के प्रति मार्क्सवाद का अपना एक पूरा नज़रिया है, उसे लागू करना चाहिए“अतीत के साहित्य में और महान साहित्यिक कृतियों में आमतौर से मार्क्सवादी आलोचकों ने अंतर्विरोध या असंगतियाँ दिखाई... अतीत ही नहीं हम देखते हैं कि वर्तमान का भी कौन-सा बड़े से बड़ा कवि या लेखक है जिसमें अंतर्विरोध या असंगति नहीं है।”<sup>22</sup> इसीलिए परंपरा के मूल्यांकन के संबंध में उनका विचार है कि हमें परंपरा के समस्त पक्षों उसकी“समस्त असंगतियों, अंतर्विरोधों के साथ इसलिए कि उनकी जो अतीतता है, उनके अंदर विरोध है, उनकी असंगतियाँ, इनका सही-सही वास्तविक ज्ञान हम प्राप्त करें, यानी हम तात्कालिक उपयोग के लिए उनका इस्तेमाल नहीं चाहते हैं, बल्कि उनको अधिक-से-अधिक उनके अपने सही ऐतिहासिक संदर्भ और उनके समस्त अंतर्विरोधों के साथ उपस्थित करके देखें कि वे हमसे दूर हैं, अलग हैं, अपने समय की समस्याएँ उन्होंने हल कीं। हमारी समस्याएँ उन्होंने हल नहीं कि, लेकिन ऐसा न करके उन्होंने गलत काम नहीं किया। इस संघर्ष में, उनके अपने संघर्ष में, अपने अंतर्विरोध में भी इतनी शक्ति है कि आज भी वे हमें बता सकते हैं... अतीत की अतीतता को बराबर सुरक्षित रखते हुए वर्तमान और अतीत की उस दूरी को रेखांकित करना, जिसमें वर्तमान की अपनी अस्मिता, अपनी विशिष्टता, अपनी समस्याएँ पूरी ज्वलंतता के साथ मौजूद रहें, वे अतीत से अपना बराबर पार्थक्य समझते रहे।”<sup>23</sup> स्पष्ट है कि नामवर सिंह की दृष्टि में परंपरा ‘अपने समग्र रूप में’ आती है जिसमें उसके अंतर्विरोध, उसके गुण तथा उसकी युगीन सीमाएँ सभी चीजें निहित होती हैं, और वर्तमान में उसकी अर्थवत्ता को उसकी अतीतता को सुरक्षित रखते देखा जाता है।

नामवर सिंह के संपादकत्व में ‘आलोचना’ पत्रिका के लंबे अंतराल में सांस्कृतिक विरासत और परंपरा संबंधी उपर्युक्त दृष्टि ‘आलोचना’ पत्रिका में कई स्तरों पर देखी जा सकती है, और कई अर्थों में इससे भिन्न दृष्टि भी दिखाई पड़ती है। नामवर सिंह के संपादन में ‘आलोचना’ पत्रिका के प्रारंभिक चरण में ‘परंपरा के मूल्यांकन’ का प्रश्न उस रूप में आलोचनात्मक नहीं दिखाई पड़ती

हैं, जिस रूप में उनके संपादन के लगभग दस वर्षों के बाद दिखाई पड़ती है। उनके संपादन के प्रारंभिक वर्षों में अपनी सांस्कृतिक विरासत अथवा परंपरा को सामान्यतः प्रस्तुत करने, उससे अवगत कराने, उसके प्रगतिशील पक्षों को स्पष्टतः उजागर करने में रही है। गौरतलब है कि परंपरा के प्रति 'आलोचना' पत्रिका का आरंभिक चरण अपनी सांस्कृतिक विरासत और परंपरा को अवबोध कराने तथा उसके महत्व को उद्घाटित करने का कार्य करती रही हैं। ऐसा नहीं है कि संपादन के अंतिम चरणों में अपनी परंपरा की वस्तुगत प्रस्तुति से 'आलोचना' ने मुँह मोड़ लिया है। अपनी परंपरा से परिचय और उसके महत्व का प्रकाशन अंतिम चरण के अंकों में भी स्पष्टतः देखी जा सकती है, किंतु 1980 ई. के बाद 'आलोचना' पत्रिका अपनी सांस्कृतिक विरासत और परंपरा को लेकर उपजी पूज्य दृष्टि तथा वर्तमान की समस्या का हल अतीत में ढूँढ़ने की प्रवृत्तियों आदि का प्रतीकार करती हुई, परंपरा की सही समझ के लिए संघर्ष करती हुई देखी जा सकती है। 'आलोचना' पत्रिका के 1980 ई. के बाद के अंकों को देखने पर यह स्थिति और स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार नामवर सिंह के संपादकत्व में 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में 'आलोचना' में सामान्यतः चार स्थितियाँ देखी जा सकती हैं

1. साहित्य की परंपरा अथवा सांस्कृतिक विरासत से परिचय तथा उसके नवीन सदर्भों और आयामों से युक्त करके उसकी महत्ता का प्रतिपादन।
2. परंपरा और अतीत की सांस्कृतिक विरासत के गौरवगान में उनकी असंगतियों की अनदेखी तथा उन्हीं में वर्तमान समस्याओं के समाधान ढूँढ़ना तथा परंपरा के मूल्यों को वर्तमान जीवन पर लागू करने की प्रवृत्तियों से संघर्ष इसमें 'परंपरा का सही चेहरा: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' के लिए 'आलोचना' पत्रिका का संघर्षपूर्ण<sup>24</sup> रवैया देखा जा सकता है।
3. दूसरी परंपरा की खोज का प्रश्न।

#### 4. साहित्य की परंपरा और कैननाइजेशन का पुनर्निर्माण।

उपर्युक्त विभाजन को एक दूसरे से कत्तई अलग-अलग करके नहीं देखा जाना चाहिए, ये आपस में परस्पर अवलंबित हैं तथा इस प्रकार का विभाजन 'आलोचना' पत्रिका द्वारा 'परंपरा के मूल्यांकन' के परिदृश्य को, वस्तुस्थिति को समझने के लिए किया गया है।

परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का मानदंड, और स्वरूप क्या है, इसे उपर्युक्त चार आयामों से सामान्यतः समझा जा सकता है, तथा उससे हिंदी आलोचना के विकास में उसके अवदान को भी समझे जाने में सहायता मिलेगी।

#### 3.2.1 साहित्य की परंपरा अथवा सांस्कृतिक विरासत से परिचय तथा उसके नवीन आयाम

नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका को इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर मुख्यतः तीन स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं।

- i. साहित्य में परंपरा और इतिहास की वस्तु हो चुके लेखकों, रचनाकारों के सांस्कृतिक अवदान और महत्ता का प्रतिपादन के लिए उन पर 'विशेषांक' अथवा विशेष सामग्री का प्रकाशन।
- ii. आदिकालीन, मध्यकालीन आदि साहित्यिक प्रवृत्तियों, कृतियों पर विभिन्न अंकों में समग्री प्रकाशित करते हुए उनसे परिचय, नवीन आयामों का उद्घाटन।
- iii. भारतीय काव्यशास्त्र के सांस्कृतिक आधार की महत्ता, मूल्य एवं स्वरूप का नवीन संदर्भों में व्याख्या तथा उसकी महत्ता का उद्घाटन।

नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका परंपरा अथवा विरासत का महत्व प्राप्त कर चुके रचनाकारों लेखकों पर विशेषांक या विशेष सामग्री प्रकाशित कर उनका मूल्यांकन करने का प्रयास करती है और साहित्य की परंपरा में उनके अवदान को, महत्व को नए सिरे से रेखांकित करती है इस संदर्भ में पहला महत्वपूर्ण प्रयास 'आलोचना' के नवांक 08 के

‘ग़ालिब विशेषांक’ में ही देखने को मिलता है। यह अंक उर्दू के प्रसिद्ध शायर ‘ग़ालिब’ की सौवीं पुण्यतिथि (1969 ई.) के अवसर पर प्रकाशित किया गया है। गौर करने की बात है कि हिंदी की पत्रिका द्वारा उर्दू शायरी के स्तंभ ‘ग़ालिब’ पर पूरे एक विशेषांक का संपादन करते हुए नामवर सिंह ने ‘आलोचना’ पत्रिका में परंपरा संबंधी अपनी धारणा को स्पष्ट किया। स्पष्ट है कि उनके यहाँ परंपरा का या सांस्कृतिक विरासत का इकहरा या एक ही अर्थ नहीं है वहाँ अन्य “दूसरी परंपराओं” को भी प्रारंभ से ही स्थान दिया गया है अर्थात् वहाँ दूसरी परंपरा को यथोचित स्थान दिलाना उनका महत्वपूर्ण प्रदेय है। जिसे उन्होंने ‘आलोचना’ पत्रिका के संपादन के माध्यम से पूरा किया। यह स्थिति सिर्फ ‘ग़ालिब’ को सांस्कृतिक विरासत के नायक के रूप में ही नहीं उपलब्ध हैं, बल्कि ‘गुरुनानक’ के संदर्भ में भी इस तथ्य का प्रमाण हम देख सकते हैं, जो कि पंजाबी भाषा के साहित्य में उनके अवदान को रेखांकित करने के उद्देश्य से मूल्यांकन किया गया है। नवांक-11 में ‘हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित निबंध ‘गुरुनानक देव’ और उत्तर सिंह द्वारा लिखित गुरुनानक देव: एक समसामयिक मूल्यांकन’, शीर्षक से प्रकाशित किया गया है। नवांक-40 में गुरुचरन सिंह सहेंसरा द्वारा लिखित ‘नानकधारा की ऐतिहासिक मूल्य वाचाएँ’ शीर्षक निबंध में गुरुनानक देव को अपनी साहित्य की परंपरा में स्थान देते हैं।

हिंदी के जातीय कवि गोस्वामी तुलसीदास पर तो ‘परंपरा के मूल्यांकन’ का आधार ही खड़ा किया गया। गोस्वामी तुलसीदास पर, उनकी रचनाओं पर, उनके संदर्भ में परंपरा का, भक्तिकाल आदि का मूल्यांकन करते हुए अनेक लेख शोधालेख, निबंध प्रकाशित किए गए हैं जिनमें कुछ महत्वपूर्ण लेख आदि को रेखांकित करना आवश्यक है। नवांक30 में प्रकाशित रमेशकुंतल मेघ का शोधपरक लेख ‘तुलसी की कवितावली: सामाजिक इतिहास-लेखन का एक प्रामाणिक काव्य-दस्तावेज’, सावित्रीचंद्र शोभा द्वारा लिखित ‘तुलसी साहित्य में सामाजिक

परिवेश: एक मूल्यांकन', जैसा शोधालेख', तथा परेश द्वारा लिखित 'मानस प्रसंग' शीर्षक आलेख महत्वपूर्ण हैं। नवांक-36 में रमेशकुंतल मेघ का शोधालेखजासू काल को दंड: तुलसी की सामाजिक चेतना' शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-65 में जगदीशचंद्र दीक्षित का शोधपरक लेख 'तुलसी की यमुना तथा तुलसी के राम', शीर्षक से प्रकाशित है जिसमें तुलसीदास जी की जीवन की घटनाओं से जोड़कर उनके साहित्य और समाज का मूल्यांकन किया गया है। नवांक-87 में जितराम पाठक का शोधालेख 'रामचरितमानस की भाषा: एक नया संदर्भ' शीर्षक से प्रकाशित है। गोस्वामी तुलसीदास पर प्रकाशित ये कुछ विशेष लेख हैं जो उनकी कई आयामों को उद्घाटित करते हैं। वैसे गोस्वामी तुलसीदास जी हिंदी साहित्य की परंपरा के मूल्यांकन' के केंद्र में रहे हैं। 'परंपरा के मूल्यांकन' का कोई संदर्भ उनको छोड़कर पूरा नहीं माना जा सकता। नवांक-44 'गोस्वामी सूरदास' पर 'आलोचना' में कुछ महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित है। नवांक-45 में शिवकुमार मिश्र का शोधपरक आलेख 'सूरदास की कविता के प्रगतिशील आयाम' सूरदास पर एक गंभीर और महत्वपूर्ण हस्तक्षेप है। नवांक-58 में प्रकाशित नंदकिशोर नवल का लेख 'आचार्य शुक्ल और सूरदास' भी एक महत्वपूर्ण लेख है।

'आलोचना' पत्रिका में जहाँ गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास पर विशेष अंक और सामग्री का प्रकाशन परंपरा के मूल्यांकन के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। वहीं मलिक मुहम्मद जायसी और मीराबाई पर लेखादि की प्रकाशन की स्थिति अत्यंत शोचनीय है। 'आलोचना' पत्रिका जो कि नामवर सिंह के संपादन में तेइस वर्ष तक प्रकाशित होती रही, उसमें मलिक मुहम्मद जायसी पर मात्र एक लेख प्रकाशित यह लेख दो भागों में वागीश शुक्ल द्वारा लिखित है नवांक-80 और 83 में एक ही शीर्षक से 'तज्जियतुल पद्मावत उर्फ कहा कि हम्ह किछु और न सूझा' से प्रकाशित है। वहीं मीराबाई परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में और भी उपेक्षा की शिकार दिखाई पड़ती है। नवांक-47 में मीराबाई को विश्वनाथ त्रिपाठी- वर्ण व्यवस्था, नारी और भक्ति आंदोलन के संदर्भ में,

प्रकारांतर से याद करते हुए देखे जा सकते हैं। मीराँबाई परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में प्रकारांतर से ही याद की गई हैं। अपना व्यक्तित्व लेकर उनका मूल्यांकन नहीं हुआ है। जायसी की स्थिति भी कमोबेश यही है। कथा-साहित्य के पुरोधे प्रेमचंद को 'आलोचना' पत्रिका में विशेष महत्व दिया गया है, नवांक-51-52 प्रेमचंद के जन्मशताब्दी के अवसर पर 'प्रेमचंद-स्मृति अंक' प्रकाशित है वहीं नवांक-53 और 59 में प्रेमचंद पर कई विशेष आलेख प्रकाशित किए गए हैं। जिसमें खगेंद्र ठाकुर का लेख 'राष्ट्रीय एकता और प्रेमचंद', ब्रजकुमार पांडेय का शोधपरक लेख 'प्रेमचंद और हरिजन समस्या', डॉ० गोपाल का शोधलेख 'रंगभूमि: एक राजनीतिक उपन्यास' शीर्षक से प्रकाशित महत्वपूर्ण लेख हैं।

'आलोचना' का नवांक-73 और नवांक-74 आचार्य रामचंद्र शुक्ल की महान विरासत के मूल्यांकन के प्रयास में निकाला गया शुक्ल अंक एक और शुक्ल अंक- दो है। इसी प्रकार नवांक-79 मैथिलीशरण गुप्त की जन्मशताब्दी तथा भारतेन्दु हरिश्चंद्र की सौवीं पुण्यतिथि पर केंद्रित विशेषांक है, इस अंक के मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य 'हिंदी नवजागरण' की संकल्पना की केंद्रीय भूमिका से जुड़ा हुआ है। नवांक-49-50 सांस्कृतिक विरासत की दूसरी परंपरा के हवाले से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पर केंद्रित स्मृति-अंक है। दूसरी तरफ नवांक-60-61 डॉ० रामविलास शर्मा के 70 वर्ष पूरे होने पर उनके संपूर्ण अवदान को स्पष्ट करनेवाला महत्वपूर्ण अंक है परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में यह अंक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका में सांस्कृतिक विरासत को, साहित्य की परंपरा की अमूल्य निधि को पहचान कराने में उसकी सक्रियता-तत्परता को बड़ी सहजता से लक्षित किया जा सकता है। यह पहचान उनके पारंपरिक और रूढ़ अर्थों को पुनः उपस्थित करके नहीं बल्कि उसमें नवीन अर्थ व आयाम भर कर की गई है, जिससे उस सांस्कृतिक विरासत की 'विगत सार्थकता' और 'वर्तमान अर्थवत्ता' स्पष्ट हो सके।

साहित्य की परंपरा के परिचय और उसके नवीन आयामों के संदर्भ में यह देखना भी



महत्वपूर्ण है कि प्राचीन, मध्यकालीन साहित्य का विकास किस रूप में वर्तमान समय में हुआ है? उनकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ और कृतियाँ कौन-सी रही हैं? उनका अपने समय में कितनी सार्थकता रही है, और वर्तमान में वह क्यों मूल्यवान रही है? 'आलोचना' पत्रिका के अंकों में इस पक्ष को बड़ी सहजता से देखा जा सकता है। 'आलोचना' के नवांक-एक से ही इसके पक्ष में प्रमाण मिल जाता है। आधुनिक हिंदी गद्य के विकास में 'भाषा'-योग वासिष्ठ' कृति के महत्व को उद्घाटित करने का महत्वपूर्ण कार्य 'गोविंदनाथ राजगुरु' ने 'आधुनिक हिंदी की प्रथम गद्यकृति: योगवासिष्ठ-भाषा' शीर्षक शोधालेख में किया है। इसीप्रकार जयशंकर प्रसाद की महत्वपूर्ण कृति 'कामायनी' के मूल्यांकन को लेकर 'आलोचना' में बहस को प्रस्तुत किया, जिसमें मुक्तिबोध की कामायनी संबंधी मान्यताएँ कई स्तरों पर वहाँ उपस्थित हैं। नवांक-06 में जगदीश शर्मा 'कामायनी और आधुनिक समीक्षा-दृष्टि' शीर्षक शोधपरक लेख में कामायनी की अध्ययन संबंधी समीक्षा-दृष्टियों का विस्तार से विवेचन करते हैं। नवांक-07 में इंद्रनाथ मदान 'कामायनी' का मूल्यांकन 'एक असफल कृति' के रूप में 'कामायनी एक असफल कृति' शीर्षक लेख के अंतर्गत करते हैं। नवांक-45 में निर्मला जैन- कामायनी का मूल्यांकन 'कामायनी और वर्गहीन साम्यवादी समाज' शीर्षक शोधलेख में करती हैं।

जयशंकर प्रसाद का मूल्यांकन रमेशचंद्र शाह ने अपने दो अलग-अलग लेखों में किया है नवांक-09 में 'विश्वविद्यालय का कवि-प्रसाद' शीर्षक लेख में तथा नवांक-19 में 'आँसू की प्रयोगशाला में प्रसाद' शीर्षक शोधालेख में मूल्यांकन करते हैं। नवांक-05 में डॉ० रामविलास शर्मा का निराला पर लिखा गया जीवनीपरक लेख 'सुर्जकुमार तिवारी' प्रकाशित है। कमलेश का लेख 'इतिहास-चिंता और मुक्तिमार्ग', नवांक-21 में प्रकाशित है। सामंती समाज की समझ और मध्यकालीन प्रवृत्तियाँ क्या होती है, उनके प्रगतिशील आयाम क्या होते हैं, इस पर 'आलोचना' में कई लेख, निबंध आदि देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए नवांक-25 में प्रकाशित नेमिचंद्र जैन

का लेख 'सामंती समझ और स्वायत्त अनुभव खंड' में, तथा प्रेमशंकर' के 'मध्यकालीन परिवेश और भक्तिकाव्य के चरित्रकाव्य' शीर्षक लेख में', नवांक-44 में नरेश जी का लेख 'मध्यकालीन हिंदी कविता में सामाजिक चेतना', नवांक-47 में प्रकाशित विश्वनाथ त्रिपाठी का लेख 'वर्ण व्यवस्था, नारी और भक्ति आंदोलन', नवांक-48 में प्रकाशित सावित्री चंद्र 'शोभा' का शोधालेख 'मध्यकालीन साहित्य में असहमति और विरोध', नवांक-83 में श्री भगवान सिंह का लेख. 'हिंदी साहित्य में वर्ण-विरोधी चेतना', नवांक-76 में प्रकाशित सतीशचंद्र का शोध-आलेख 'उत्तर-भारत में भक्ति आंदोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि', नवांक-85 में कुँवर नारायण के लेख का अनुवाद 'सदूर अतीत का दबाव: परंपरा की पुनर्व्याख्या', तथा नवांक-16 में प्रकाशित रमेशकुंतल मेघ का गंभीर आलेख 'सिद्धों का रस सौंदर्य-योगाचार' आदि लेखों, निबंधों, शोधालेखों से भक्तिकालीन समय-समाज तथा प्रवृत्तियों, धारणाओं के स्वरूप पर गंभीर चर्चा 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में ही अर्थ व्यंजना का विस्तार पाता है। 'आलोचना' इस संदर्भ में सांस्कृतिक विरासत के स्वरूप को उद्घाटित करने, उसके महत्वपूर्ण पक्षों पर गंभीर आलेख, शोधपरक निबंध आदि प्रकाशित करते हुए अर्थात् परंपरा की पहचान, उसकी पृष्ठभूमि के संदर्भ में उसकी व्याख्या करते हुए हिंदी आलोचना को गुणात्मक रूप से समृद्ध करती है।

'कामायनी' जैसी कृति का तो जैसे भी किसी-न-किसी रूप में मूल्यांकन होता रहा है, किंतु 'चंद्रकांता' की उपेक्षा जासूसी-तिलिस्मी साहित्य की कोटि में डाल कर की गई। उसे मनोरंजन प्रधान-लोकप्रिय रचना ही माना जाता था किंतु राजेंद्र यादव के लेख- 'चंद्रकांता: दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान', नवांक-53 तथा प्रदीप सक्सेना के दो लेख 'चंद्रकांता: यथार्थवाद के उत्थान का महाकाव्य', (नवांक-76). 'तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र' (नवांक-83) के बाद इस कृति के महत्व का उद्घाटन हुआ इसका श्रेय भी 'आलोचना' को जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र को न सिर्फ हिंदी साहित्य और समीक्षा के लिए, बल्कि संपूर्ण भारतीय

साहित्य की सांस्कृतिक विरासत के रूप चिह्नित किया जा सकता है। आज भी साहित्यशास्त्र के संबंध में भारतीय काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता, उपयोगिता पर जोरदार बहस की जाती है। 'आलोचना' पत्रिका भारतीय काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता को लेकर आरंभ से ही साक्रिय रही है, उसके अंकों में कई ऐसे महत्वपूर्ण शोधलेख हैं जिनमें काव्यशास्त्र की परंपरा का नवीन अर्थों में उद्घाटन, उसकी प्रासंगिकता, औचित्य का उद्घाटन किया जा सके।

नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' के नवांक-02 में 'रघुवंश का लेख 'संस्कृत काव्यशास्त्र और संरचनात्मक समीक्षा-पद्धति', नवांक-03 में 'लोठार लुठ्से' का लेख 'ब्रेख्त रंगमंच: संस्कृत नाटकों के संदर्भ में', इसके अतिरिक्त नवांक-05 में 'रमेशकुंतल मेघ' का आलेख 'साधारणीकरण का द्वंद्व न्याय', तथा नवांक-10 में प्रकाशित 'राममूर्ति त्रिपाठी' का लेख 'भारतीय काव्यशास्त्र की नई व्याख्या', नवांक-12 में विजेंद्रनारायण सिंह' का लेख "वक्रोक्ति सिद्धांत: आधुनिक परिप्रेक्ष्य', नवांक-16 में 'दि. के. बेडेकर' का शोधपरक लेख 'नाट्यशास्त्र एवं सांख्य दर्शन में भाव', एवं इसी अंक में राममूर्ति त्रिपाठी का लेख 'रचनात्मक समीक्षा और भारतीय काव्यशास्त्र' प्रकाशित है। नवांक-20 में राममूर्ति त्रिपाठी का ही लेख 'भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमानों का नई संभावनाओं में संचार', शीर्षक से प्रकाशित है। नवांक-21 में अ.र. हार्डीकर का 'संस्कृत वाङ्मय में अश्लीलता विचार', एक महत्वपूर्ण शोधलेख है। नवांक-23 में प्रकाशित 'हरद्वारीलाल शर्मा' लिखित 'न ययौ न तस्यौ', शीर्षक लेख तथा राममूर्ति त्रिपाठी का 'भारतीय काव्यशास्त्र: नई व्याख्या', इस संदर्भ में महत्वपूर्ण लेख हैं। नवांक-41 में प्रकाशित प्रभाकर श्रोत्रिय का लेख 'रस पुनर्दृष्टि की प्रासंगिकता', नवांक-43 में प्रकाशित मनोहर काले का 'अर्थक्रियापेक्षम् काव्यं', भी काव्यशास्त्रीय चिंतन के नवीन आयाम को उद्घाटित करनेवाला लेख है। वहीं नवांक-73 में प्रकाशित 'भारतीय काव्यशास्त्र और आचार्य शुक्ल' शीर्षक शोधपरक निबंध में विश्वंभरनाथ उपाध्याय शुक्लजी की भारतीय काव्यशास्त्र की व्याख्या की धारणा को स्पष्ट करते हैं। 'आलोचना'

का नवांक-92 तो रस सिद्धांत पर केंद्रित अंक है। यह अंक भारतीय काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण पक्ष-‘रससिद्धांत’ की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए उल्लेखनीय माना जा सकता है। इस अंक में भारतीय काव्यशास्त्र के अप्रतिम विद्वान ‘दि. के. बेडेकर के लंबे शोध-निबंध ‘रस सिद्धांत का स्वरूप’ का अनुवाद प्रकाशित किया गया है। इस लेख का मराठी से हिंदी अनुवाद प्रभाकर माचवे ने किया है। इसी अंक में अशोक रा0 केलकर के अध्ययनपूर्ण लेख का हिंदी अनुवाद ह. श्री. साने ने किया है, जो ‘प्राचीन भारतीय-साहित्य मीमांसा: ‘एक आकलन’ शीर्षक से प्रकाशित है। इस अंक का संपादकीय नामवर जी ने ‘रस: जस का तस या बस?’ शीर्षक से लिखा है। जो रस सिद्धांत के नवीन अर्थ-संदर्भों और दृष्टि को स्पष्ट करता है। इसके अतिरिक्त महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि यह अंक भारतीय काव्यशास्त्र के अध्येता दि. के. बेडेकर जी की स्मृति को समर्पित है।

स्पष्ट है कि ‘आलोचना’ पत्रिका भारतीय साहित्यशास्त्र की परंपरा की अमूल्य निधि की प्राचीन महत्ता को स्पष्ट करती है, वहीं आधुनिक संदर्भों में उसकी नवीन संभावनाओं को ढूँढने में प्रयासरत विद्वानों की गंभीर अध्ययनों को उचित स्थान देती है। इस प्रकार ‘आलोचना’ पत्रिका को भारतीय काव्यशास्त्र के नवीन अर्थ-छवियाँ देने का महत्वपूर्ण कार्य करते हुए देखा जा सकता है।

### 3.2.3 परंपरा का सही चेहरा : विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता

नामवर सिंह के संपादन में ‘आलोचना’ पत्रिका ने ‘परंपरा के मूल्यांकन’ के संदर्भ में सबसे अधिक संघर्ष ‘परंपरा का सही चेहरा: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता’, के लिए किया है। ‘आलोचना’ पत्रिका का परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में इस महत्वपूर्ण अवदान को अवश्य रेखांकित किया जाना चाहिए। परंपरा का मूल्यांकन हो इस पर प्रश्न उठता है कि कौन-सी परंपरा? प्राचीनकाल की या अतीत की उन सभी रूढ़िग्रस्त परंपरा को परंपरा कहें, या उस परंपरा में निहित उन प्रगतिशील तत्वों और पक्षों को परंपरा’ के अंतर्गत रखे?? यदि अतीत की सांस्कृतिक विरासत में प्रगतिशील आयाम तथा रूढ़ियुक्त मान्यताएँ, युगीन सीमाएँ एक साथ परिलक्षित हों फिर परंपरा

का मूल्यांकन कैसे किया जाए?? उनके इस अंतर्विरोधपूर्ण तथ्यों को किस प्रकार ग्रहण किया जाए और उसके मूल्यांकन के संदर्भ में मार्क्सवादी नज़रिया क्या हो?? इन प्रश्नों को 'आलोचना' पत्रिका की क्या दृष्टि रही है? नामवर सिंह इन प्रश्नों को कैसे लेते हैं? परंपरा के मूल्यांकन संदर्भ में उठे इन प्रश्नों को 'परंपरा का सही चेहरा: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता', उपशीर्षक में देख सकते हैं।

'परंपरा के मूल्यांकन' के इस संदर्भ को 'आलोचना' पत्रिका का सबसे संघर्षपूर्ण स्थिति के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। और उसकी इस परिप्रेक्ष्य में एक सीधी स्पष्ट मान्यता भी देखी जा सकती है। परंपरा के मूल्यांकन के प्रति यह आयाम तब स्पष्ट होता है, जब 1980 ई० के बाद हिंदी साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षरीजो तब परंपरा की वस्तु हो चुके थेकी जन्मशताब्दियाँ, पुण्यतिथियाँ, आदि मनाई जा रही थीं, और उत्सवों के उत्साह में उनका मूल्यांकन करने हेतु कई पक्ष एक साथ क्रियाशील हो उठे थे। उनमें परंपरावादी-प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ थीं, वहीं प्रगतिशील चिंतकों, आलोचकों की मान्यताओं में कुछ विभ्रम की स्थिति बनी हुई थी उनका प्रयोग बहुत सरलता से प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ अपने पक्ष में कर रही थीं। इस संदर्भ में 'आलोचना' पत्रिका ने 'परंपरा का सही चेहरा' के सवाल पर अपना हस्तक्षेप किया। जो इस पत्रिका के विभिन्न अंकों के लेखों, निबंधों, संपादकीय टिप्पणियों में देखने को मिलती है, वहीं उन परंपरा का स्थान प्राप्त कर चुके उन्हीं रचनाकारों की जन्मशताब्दियों और पुण्यतिथियों पर 'आलोचना' पत्रिका द्वारा आयोजित विशेषांकों, विशेष सामग्री आदि में भी इसे लक्षित किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कई बार ये अंक परंपरा के मूल्यांकन संबंधी मान्यताओं को स्पष्ट करने के लिए ही संपादित किए गए हैं, और उस संदर्भ में परंपरा का मूल्यांकन किया गया है।

परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में परंपरा का सही चेहरा क्या हो, इसको स्पष्ट करने का महत्वपूर्ण प्रयास 'आलोचना' के नवांक-51-52 प्रेमचंद-स्मृति अंक में देखा जा सकता है। प्रेमचंद

जन्मशताब्दी के अवसर पर आयोजित इस अंक में प्रेमचंद पर उठाए गए प्रश्नों का जवाब दिया गया है, तथा प्रेमचंद की प्रासंगिकता के संदर्भ को स्पष्ट किया गया है। इस संदर्भ में ध्यान देने की बात है कि प्रेमचंद की जन्मशताब्दी के अवसर पर निर्मल वर्मा के लेख में “‘कला की प्रासंगिकता’ के प्रश्न को उठाकर सीधे प्रेमचंद को अप्रासंगिक कहने के बदले परोक्ष रूप से अप्रासंगिक साबित करने की कोशिश की”<sup>25</sup> थी। इस प्रकार प्रेमचंद की प्रासंगिकता का सवाल उठाया गया था। प्रासंगिकता के प्रश्न का उत्तर नामवर सिंह ने ‘आलोचना’ के नवांक-51-52 में ‘प्रेमचंद: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता’, शीर्षक संपादकीय में दिया था। निर्मल वर्मा ने कला के संदर्भ में जिस प्रकार से ‘प्रेमचंद की प्रासंगिकता’ पर प्रश्नचिह्न लगाए थे उनका उत्तर देते हुए नामवर सिंह स्पष्ट करते हैं कि “‘उन्हें न अपने सामाजिक संदर्भ से मतलब है, न प्रेमचंद से। प्रासंगिकता का अर्थ उनके लेखे कलात्मक प्रासंगिकता से है और इसे वे एक अरसे से शब्द बदल-बदल कर कहते आ रहे हैं कि कला की दृष्टि से प्रेमचंद पुराने पड़ गए हैं।’”<sup>26</sup> नामवर सिंह कलावाद के इस संदर्भ की पड़ताल करते हुए ‘रूप’ के प्रश्न के मिथ को उद्घाटित करते हैं, उसकी सामाजिक अंतर्वस्तु के रूप को उद्घाटित करते हैं। इसके अतिरिक्त उन आलोचकों के मत की तीव्र आलोचना करते हैं जो सिर्फ-व-सिर्फ प्रेमचंद को ही “‘भारत के स्वाधीनता-संग्राम का महागाथाकार मानता है, विचारों में अपने ज़माने के सभी राजनीतिज्ञों और साहित्यकारों से ज़्यादा प्रगतिशील और अग्रगामी भी दिखाया जाता है और इन सबके ऊपर उन्हें भारतीय किसान का पहला और बड़ा पक्षधर लेखक बताया जाता है।’”<sup>27</sup> दरअसल नामवर सिंह भारतीय परिप्रेक्ष्य को देखते हुए इस स्थिति से अवगत कराते हैं कि “‘प्रेमचंद भारत में किसानों के पहले उपन्यासकार न थे। उड़िया में फ़कीर मोहन सेनापति ने 1897 में किसानों के सवाल को लेकर ‘छमाण आठ गुंठ’ (छै बीघा ज़मीन) नामक उपन्यास लिखा था।’”<sup>28</sup> इस प्रकार प्रेमचंद को ही ‘भारतीय किसानों का प्रथम उपन्यासकार’ कहने में एक तरफ तो पूरा भारतीय परिप्रेक्ष्य धुँधला होता है, तथा दूसरी तरफ यह खतरा रहता है कि

सिर्फ “किसानों का कथाकार कहने पर प्रेमचंद का महत्व एक दृष्टि से घटाने का भी प्रयास होने लगता है।”<sup>29</sup> इसीलिए नामवर सिंह अपने संपादकीय में पूरनचंद्र जोशी के हवाले से स्पष्ट करते हैं कि “जो कल के औपनिवेशिक दासता से ग्रस्त भारत और आज के अर्द्ध सामंती अवशेषों तथा नवोदित पूँजीवादी विकास के अंतर्विरोधों से उद्वेलित भारत के बीच निरंतरता और विच्छिन्नता के द्वंद्वात्मक संबंध को समझते हुए आज कर्म और सृजन की अपार संभावनाओं को देख रहा है। वही प्रेमचंद का सही मूल्यांकन कर सकता है। मुख्य प्रश्न इस व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का है। प्रेमचंद की ‘विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता’ की समस्या का सुलझाव इसी परिप्रेक्ष्य से संभव है।”<sup>30</sup> इसी अंक में पूरनचंद्र जोशी ने ‘प्रेमचंद की अमरता के मूल स्रोत’ पर साहित्यिक समाजशास्त्रीय चिंतन पद्धति के माध्यम से प्रेमचंद की प्रासंगिकता को स्पष्ट किया है। तथा कलावादी प्रश्नों का उत्तर देने का कार्य किया है। मैनेजर पांडेय भी इस अंक में ‘प्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचंद की प्रासंगिकता’ शीर्षक निबंध में आधुनिकतावादी-कलावादी प्रश्नों का उत्तर देते हुए प्रेमचंद की महत्ता का उद्घाटन करते हैं। “किसी कलाकृति की उत्पत्ति, उसकी अस्तित्व और उसका जीवन समाज तथा इतिहास के बाहर नहीं होता। कृतिकार और पाठक भी समाज तथा इतिहास से परे नहीं होते। कलाकृति की प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता का निर्णय भी समाज और इतिहास के भीतर ही होता है।... अतीत की सार्थकता और वर्तमान अर्थवत्ता की द्वंद्वात्मकता के कारण रचना की उत्पत्ति का उसके प्रभाव से संबंध स्पष्ट होता है।... कहने का तात्पर्य यह है कि प्रासंगिकता की धारणा केवल सौंदर्यबोधी धारणा नहीं हैं, वह बुनियादी तौर पर सामाजिक और ऐतिहासिक धारणा है।”<sup>31</sup> स्पष्ट है कि प्रेमचंद की जन्मशताब्दी के अवसर पर ‘आलोचना’ पत्रिका में कलावादी प्रासंगिकता की अवधारणा में निहित मन्तव्यों को उजागर करनेवाले लेख, शोधालेख संपादकीय टिप्पणियाँ आदि देखे जा सकते हैं जिससे अपनी परंपरा के महत्वपूर्ण उन्नायक की विरासत को अतीत में सार्थक और वर्तमान में उसकी अर्थवत्ता की द्वंद्वात्मकता को उद्घाटित किया

जा सके।

ध्यान देने की बात है कि जन्मशताब्दियों के अवसर पर उनकी प्रासंगिकता सिद्ध करने के लिए जब कुछ रचनाकारों की 'विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' को भुलाकर उनकी समकालीन समस्याओं के संदर्भ में एकदम समकालीन बनाकर प्रस्तुत किया जाने लगा था तब नामवर सिंह ने नवांक-67 के संपादकीय 'प्रासंगिकता का प्रमाद' में यह चिंता व्यक्त की कि "आज यह सवाल उठाना इसलिए ज़रूरी है कि प्रासंगिकता की चिंता प्रमाद की सीमा तक बढ़ गई है। अतीत के हर बड़े लेखक को किसी-न-किसी तरह समकालीन बनाने की कोशिश हो रही है कि अतीत की अतीतता तो सुरक्षित नहीं ही रही वर्तमान की अपनी विशिष्टता भी लुप्त हो रही है यहाँ तक कि अतीत और वर्तमान का अंतर मिटता जा रहा है और इस तरह आज की ज्वलंत समस्याओं से बच निकलने का एक बहाना मिल रहा है।"<sup>32</sup> इस प्रकार हिंदी आलोचना के इस दौर में प्रासंगिकता का प्रश्न इस कदर हावी था कि एक पक्ष परंपरा को हथिया लेने की कोशिश कर रहा था, तो कुछ परंपरा की अपनी मनमानी व्याख्या करने में लगे हुए थे। और इस प्रासंगिकता के प्रमाद में "जो महापुरुष जीते-जी अलक्षित रह गए वे भी अब बच निकलने के लिए स्वतंत्र नहीं है। उन्हें भी प्रासंगिक होना पड़ेगा।"<sup>33</sup> ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी। ऐसी स्थिति में "परंपरा को हथिया लेने की इस कोशिश में आश्चर्य नहीं कि अनुकूल व्याख्या द्वारा प्रासंगिकता बनाने का सारा प्रयास ही संदिग्ध हो उठे। आज परंपरा की प्रगतिशील धारा के लिए संघर्ष करनेवालों के सम्मुख सबसे बड़ी चुनौती यही है।"<sup>34</sup> इस संदर्भ में उन्होंने प्रगतिशील चिंतकों द्वारा "रूढ़िवादियों से अपने अतीत की रक्षा करके परंपरा की प्रगतिशील धारा को उजागर करने"<sup>35</sup> के प्रयास की मजहत्ता को उजागर करते हैं।... उन्होंने प्रगतिशील आलोचकों द्वारा इस दृष्टि से "कबीर, जायसी, भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, निराला जैसे महान साहित्यकारों की प्रगतिशील व्याख्याओं"<sup>36</sup> को ऐतिहासिक महत्त्ववाला बताते हैं और स्पष्ट करते हैं कि "निश्चय ही इन साहित्यकारों के मूल्यांकन में उनके



अंतर्विरोधों और असंगतियों को भी रेखांकित किया गया है और इसके लिए एक हद तक ऐतिहासिक परिस्थितियों को जिम्मेदार भी ठहराया गया है। किंतु जोर निश्चय ही विधेययात्मक प्रगतिशील तत्वों पर ही<sup>37</sup> रहता है। इस पक्ष के होने के बावजूद नामवर सिंह स्पष्ट करते हैं कि “अतीत के लेखकों को प्रासंगिक सिद्ध करने की चिंता में या तो वर्तमान से उनके पार्थक्य को कम करके बताया जाता है या फिर इस अंतर को एकदम भुला ही दिया जाता है... कुछ समान प्रगतिशील तत्वों के कारण अतीत के प्रायः सभी महान लेखक एक रूप से दिखाई पड़ते हैं यहाँ तक कि उनके चेहरे की निजी विशिष्टता भी खो जाती है। इस प्रकार फौरी तौर पर यह ‘प्रगतिवादी रणनीति’ भले ही कारगर प्रतीत हो, किंतु अंततः यह आश्चर्यजनक एकरूपता ही उसे संदिग्ध बना देती है।”<sup>38</sup> मार्क्सवादी आलोचकों की ‘प्रगतिवादी रणनीति’ अर्थात् ‘विधेययात्मक प्रगतिशील तत्वों पर ही जोर’ होने के कारण अपनी परंपरा के अंतर्विरोधों असंगतियों को नज़रअंदाज़ किया जाने लगा। इस संदर्भ में मार्क्सवादी चिंतकों ने एकदम सरलीकरण का सहारा लिया। इस प्रकार अपनी परंपरा के महत्वपूर्ण व्यक्तित्वों चाहें वे “व्यक्तित्व प्रेमचंद के हों अथवा निराला, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा अथवा उनके पहले के भारतेन्दु बाबू, महावीर प्रसाद द्विवेदी या फिर और पहले के; इस नाते विवादास्पद रहे हैं कि उनके मूल्यांकन में इन व्यक्तित्वों के प्रगतिशील पक्ष को रेखांकित किया गया है इतर पक्ष की अनदेखी की गई है या उसे उभारा नहीं गया है और इस प्रकार अंतर्विरोधों की चर्चा न करके एक सीधी लकीर में इनकी प्रगतिशीलता का आख्यान किया गया है।”<sup>39</sup> इसीलिए शिवकुमार मिश्र साफ शब्दों में कहते हैं कि “परंपरा के मूल्यांकन के हमारे दूसरे प्रयास भी उपर्युक्त कमजोरी से ग्रस्त रहे हैं और इस कारण मार्क्सवादी आलोचना की विश्वसनीयता को भी हमने संदिग्ध बनाया है।”<sup>40</sup> इस समस्या से उबरने के लिए ‘परंपरा का सही चेहरा’ साफ करने तथा इसकी ‘विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवता’ को उजागर करने के लिए नामवर सिंह ने यह धारणा प्रस्तुत की “अपनी अस्मिता और अपनी जड़ों की खोज करते हुए परंपरा के प्रति

आलोचनात्मक रुख से परिचित होना चाहिए।”<sup>41</sup> इसके अतिरिक्त नामवर सिंह एक सुझाव और रखते हैं कि “यदि ब्रेष्ट के ‘अलगाव-प्रभाव’ को आलोचना के क्षेत्र में लागू करें तो अतीत की कृतियों को आज के लिए प्रासंगिक बनाने का सबसे वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ मूल्य यह है कि अपने और उनके बीच की दूरी को सुरक्षित रखा जाय और इस प्रकार पाठकों में उस आलोचनात्मक विवेक को जाग्रत रखा जाय जिससे वे अतीत की महान से महान कृति के अपने अंतर्विरोध के प्रति सजग रहे। दूरी अथवा अलगाव का विलोम पुराना ‘तादात्म्य’ सिद्धांत है जिसमें भ्रम का खतरा है। इस प्रक्रिया में प्राचीन कृति थोड़ी देर के लिए नितान्त समकालीन भले ही हो जाए, किंतु अंततः उसकी अपनी अस्मिता तो नष्ट होती ही है, हम भी अपनी अस्मिता के लिए खतरा मोल लेते हैं। इस भ्रम से बचने का एक ही उपाय है और वह है ‘पार्थक्य का सतत विवेक’।”<sup>42</sup> नामवर सिंह ने परंपरा के सही चेहरे को स्पष्ट करने के लिए उसकी विगत महत्ता तथा वर्तमान अर्थवत्ता को बनाए रखने के लिए पार्थक्य सिद्धांत के सुझाव को गंभीरता से प्रस्तुत किया है। ‘नामवर सिंह के ‘पार्थक्य का सतत विवेक’ के सुझाव की कड़ी प्रतिक्रिया बच्चन सिंह ने की थी जो ‘आलोचना’ के ही नवांक-68 में “‘प्रासंगिकता’ के प्रश्न पर एक संवाद” शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित है। इस ‘पार्थक्य के सिद्धांत’ को इतिहास की वस्तु बताते हुए उसे ‘निहायत बेमाकूल’ मानते हैं और तादात्म्य सिद्धांत को ही परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में उपयुक्त मानते हैं। स्पष्ट करते हैं कि “‘तादात्म्य’ पुराना तो है पर काफी वजनदार है और प्रासंगिकता के संदर्भ में काफी उपयोगी है। ब्रेष्ट का ‘एलियनेशन-इफेक्ट’ अब इतिहास की वस्तु बन गया है।”<sup>43</sup> नामवर सिंह इस ‘सामयिक प्रतिक्रिया’ का उत्तर देते हुए अपने सुझाव को और स्पष्ट करने का काम इसी अंक में ‘संपादक की टिप्पणी’ शीर्षक लिख कर करते हैं। इस ‘पार्थक्य सिद्धांत’ के और भी अन्य आयामों को उद्घाटित करते हैं।<sup>44</sup>

इस प्रकार ‘परंपरा का सही चेहरा’ को स्पष्ट करने तथा ‘विगत महत्ता तथा वर्तमान

अर्थवत्ता' को उजागर करने के लिए नामवर सिंह के उपर्युक्त दोनों सुझाव महत्वपूर्ण हैं और उन्होंने परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ 'आलोचनात्मक रुख' तथा 'पार्थक्य सिद्धांत' का ही प्रयोग किया है। कहने की ज़रूरत नहीं कि 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में 'आलोचना' पत्रिका में प्रायः इन्हीं दो धारणाओं का उपयोग किया गया है। इस संदर्भ में 'आलोचना' पत्रिका के उन विशेषांकों, लेखों, शोधालेखों को देखा जा सकता है, जो मुख्य रूप से परंपरा के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर केंद्रित रहा है।

'आलोचना' पत्रिका के नवांक-51-52 प्रेमचंद-स्मृति अंक में तथा भारतेंदु हरिश्चंद्र की सौवी पुण्यतिथि और मैथिलीशरण गुप्त की जन्मशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में 'आलोचना' 'हिंदी नवजागरण' के आलोक में जो अंक (नवांक-79) प्रस्तुत हुआ परंपरा के मूल्यांकन संबंधी इन्हीं दो धारणाओं का उपयोग किया गया है। इस अंक में भारतेंदु के समस्त कृतित्व का मूल्यांकन इस परिप्रेक्ष्य में करते हुए उनकी 'विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' को भी स्पष्ट किया गया है। यहाँ उनके अंतर्विरोधों को दबाया नहीं गया है, बल्कि बच्चन सिंह ने एक लेख ही 'भारतेंदु हरिश्चंद्र: व्यक्तित्व के अंतर्विरोध' शीर्षक से प्रकाशित है। उस लेख में बच्चन सिंह स्पष्ट करते हैं कि "भारतेंदु के व्यक्तित्व का अध्ययन उस युग के तथा हिंदी जाति के अंतर्विरोधों का अध्ययन है। किंतु स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी सचेत व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज के अंतर्विरोधों का प्रतिबिंब नहीं होता। दोनों में द्विधात्मक संबंध होता है।... किंतु... जब तक उनकी रूढ़िवादिता और पारंपरिकता नहीं रखी जाएगी. सिक्के का एक ही पहलू सामने आएगा, पूरा सिक्का नहीं और न इससे उस युग का पूरा अंदाज हो सकेगा।"<sup>45</sup> बच्चन सिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र के अंतर्विरोधों का अध्ययन करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि "उनका व्यक्तित्व अंतर्विरोधों का एक कांप्लैक्स था। वे विशिष्ट भी थे, सामान्य भी; राजभक्त भी थे, देशभक्त भी; सनातनी वैष्णव भी थे; आडंबर विरोधी भी थे. परंपरावादी भी थे, आधुनिक भी... ये अंतर्विरोध हिंदी समाज के थे, इसलिए भारतेंदु के भी। इनके आधार पर भी समाज और भारतेंदु के रिश्ते को समझा जा सकता है।"<sup>46</sup> इसी प्रकार

शिवकुमार मिश्र भारतेंदु हरिश्चंद्र के प्रति अपनी श्रद्धा रखते हुए भी उनकी राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति के प्रश्न पर स्पष्ट करते हैं कि “भारतेंदु की राजभक्ति या राष्ट्रभक्ति पर कोई भी रायजनी उनके अपने समय के संदर्भ में और उनके अपने समय के नवजागरण के परिपेक्ष्य में ही होनी चाहिए।”<sup>47</sup> शिवकुमार मिश्र उन विद्वानों का विरोध करते हैं जो भारतेंदु का मूल्यांकन वर्तमान समय की मान्यताओं-अवधारणाओं के आधार पर करना चाहते थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र की इस संदर्भ में क्या स्थिति थी उसे स्पष्ट करते हुए शिवकुमार मिश्र कहते हैं कि “भारतेंदु में जो और जैसी राष्ट्रभक्ति है उसके लिए हमें किसी भी प्रकार की सफाई पेश करने की ज़रूरत नहीं है और न उसके लिए संकुचित होने की ज़रूरत है। वह उनके अपने समय की चीज़ है और उस समय वह उसी रूप में उनकी चेतना का अंग बन सकती थी, जिस रूप में वह है... भारतेंदु बाबू में कुल मिलाकर राजभक्ति का अंश बहुत गाढ़ा है, वह सत्तर से अस्सी प्रतिशत तक है और जिसे राष्ट्रभक्ति कहेंगे, आज के अर्थोवाली राष्ट्रभक्ति, उसका प्रतिशत शायद महज दस प्रतिशत ही होगा, और वह भी एकदम आज जैसा नहीं। देखने की बात यह है कि भारतेंदु की इस अस्सी प्रतिशत राजभक्ति पर कैसे उनकी अल्पांश की यह राष्ट्रभक्ति अंततः अपना वर्चस्व कायम करती है, और भारतेंदु अपने समय के एक खरे राष्ट्रभक्त के रूप में हमें अपनी पहचान कराते हैं। किंतु इस मूल्यांकन के लिए हमें भारतेंदु के गहरे आत्मसंघर्ष से होकर गुज़रना होगा।”<sup>48</sup> इस उद्धरण के मंतव्य से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भारतेंदु हरिश्चंद्र की सांस्कृतिक विरासत को सही परिप्रेक्ष्य में रखकर ग्रहण करना है, उनके गहरे आत्मसंघर्ष से होते हुए उनके सही स्वरूप को उद्घाटित करना है जिससे वर्तमान समय में उनके संघर्षों से प्रेरणा ग्रहण की जा सके। ध्यान देने की बात है कि ‘आलोचना’ के इस अंक में भारतेंदु का मूल्यांकन इन्हीं संदर्भों में रखकर किया गया है, जिनसे भारतेंदु की सांस्कृतिक विरासत की सही पहचान कर सके। उनके युगीन सीमाओं को, उनके मूल्यवान संघर्ष को उद्घाटित किया जा सके। रमेशकुंतल मेघ का लेख ‘भारतेंदु हरिश्चंद्र और कुछ उपनिवेशीय सवाल’ इस संदर्भ

में एक महत्वपूर्ण लेख है, जो भारतेन्दु हरिश्चंद्र के व्यक्तित्व के कई पक्षों को उद्घाटित करता है। इसी अंक में मैथिलीशरण गुप्त पर भी गंभीर अध्ययन युक्त सामग्री दी गई है। और मैथिलीशरण गुप्त का मूल्यांकन भी उनके युगीन संदर्भ और मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में ही किया गया है, जिससे उनके व्यक्तित्व का सही रूप पाठकों तक पहुँच सके, तथा उनके मूल्यवान योगदान का स्वरूप क्या है उससे अवगत हो सके। मैथिलीशरण गुप्त के अनुवादक रूप, राष्ट्रीय जागरण के कवि रूप, उनकी राष्ट्रीयता, तथा उनका हिंदी भाषा के विकास में क्या योगदान है, आदि मुद्दों को इस अंक के लेखों में स्पष्ट किया गया है।

इसी नवांक-79 में 'हिंदी नवजागरण की संकल्पना' को लेकर नामवर जी ने कुछ प्रश्न उठाए हैं, जो उनके संपादकीय के रूप में 'हिंदी नवजागरण की समस्याएँ शीर्षक से प्रकाशित है वह 'हिंदी नवजागरण' को एक पक्ष द्वारा हथिया लेने की कोशिश के विरोध में लिखा गया है।<sup>49</sup> मूलतः यह अंक भी इसी तरह परंपरावादियों-रूढ़िवादियों से 'परंपरा के स्वरूप' की रक्षा करता हुआ दिखाई पड़ता है। 'आलोचना' पत्रिका के (नवांक-79) 'नवजागरण' और 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र पर केंद्रित अंक के विरोध में कई विरोधी मान्यताएँ भी निकल कर आईं, जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि नवजागरण की, भारतेन्दु हरिश्चंद्र की छवि को उनके वास्तविक संदर्भों से काटकर कोई और छवि बनाई जाने लगी थी; अन्यथा शिवकुमार मिश्र 'आलोचना' के नवांक-82 में प्रकाशित अपने लेख- 'नवजागरणकालीन साहित्य के चरित्र का एक विशिष्ट पहलू', में उन मान्यताओं इतना कड़ा प्रतिवाद नहीं करते जो उस लेख में प्रच्छन्न रूप से आए हैं। जैसे 'यह सब हम इसलिए लिख रहे हैं, ताकि हम भारतेन्दु बाबू की विरासत को उसके सही परिप्रेक्ष्य और सही संदर्भों में देख और ग्रहण कर सकें, उससे सीख ले सकें। भारतेन्दु बाबू की यही विरासत हमारे लिए अधिक ग्राह्य और मूल्यवान होगी, बजाए उनके उस रूप के जो उन्हें उनके समय से काटकर, एक श्रद्धाविगलित मानसिकता के तहत हमारे सामने पेश किया जाएगा। हमारा यह कथन उन लोगों के लिए है जो

सचमुच भारतेंदु को एक मूल्यवान विरासत के रूप में अपनी भाषा तथा साहित्य के हित में पाना, सँजोना और अपने साथ लेकर चलना चाहते हैं, उनके लिए नहीं, जिनकी 'भारतेंदु-व्याकुल' और 1857 व्याकुल छवि हमें 'आलोचना' के 79 वे अंक के बाद ही देखने को मिली है। ऐसे लोगों के भारतेंदु-प्रेम और देश-प्रेम को हम अच्छी तरह पहचानते हैं।<sup>50</sup> इस लेख में मिश्र जी ने बार-बार आग्रह किया है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र के मूल्यवान को अवश्य बताएं "अपने रचनाकारों का सही मूल्यांकन करें, उस पर अपने रुझानों को आरोपित कर उनके चेहरे पर और इतिहास के चेहरे पर धुंध न चढ़ाएँ। भारतेंदु बाबू को हम भारतेंदु ही रहने दें तो यह हमारे और हमारे साहित्य के हित में होगा।"<sup>51</sup> और स्पष्ट करते हैं कि "यह काम एक सजग वैज्ञानिक विवेक की अपेक्षा रखता है।

यह वैज्ञानिक विवेक ही हमें परंपरा या इतिहास को उसकी पूरी वस्तुनिष्ठता में देखने परखने और मूल्यांकित करने की आलोचनात्मक दृष्टि देता है, हमें इतिहास या परंपरा के प्रति भावुक, श्रद्धाविगलित, मोहाक्रान्त अथवा आतंकाभिभूत होने से बचाया है। हमें सत्य को, वस्तुगत सत्य को, साहस के साथ स्वीकार करने तथा उसके आलोक में आगे का मार्ग तय करने में मदद देता है। वस्तुतः परंपरा का अध्ययन हम इसीलिए करते हैं।"<sup>52</sup> स्पष्ट है कि परंपरा का मूल्यांकन सांस्कृतिक विरासत की सही पहचान तथा उसकी 'विगत महत्ता एवं वर्तमान अर्थवत्ता' के संदर्भ में करना चाहिए, जिसके लिए 'आलोचनात्मक रुख' अपनाना होता है, साथ ही उसके अतीत की अतीतता को बनाए रखने के लिए उससे अपना 'पार्थक्य' भी बनाना अपेक्षित है। परंपरा के मूल्यांकन के संबंध में वस्तुतः यही वैज्ञानिक दृष्टि है। कहने की ज़रूरत नहीं कि 'आलोचना' पत्रिका ने परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में इसी दृष्टि को अपना आदर्श बनाया है। जो उसके 'सूरदास' पर केंद्रित विशेष सामग्री, 'तुलसीदास' और मानस पर विशेष सामग्री युक्त अंक, प्रेमचंद स्मृति-अंक, हिंदी नवजागरण, भारतेंदु हरिश्चंद्र, मैथिलीशरण गुप्त, आदि के मूल्यांकन के संदर्भ में देखा जा सकता है।

इस प्रकार नामवर सिंह द्वारा संपादित 'आलोचना' पत्रिका अपने सांस्कृतिक विरासत की न सिर्फ सही तस्वीर प्रस्तुत करने का कार्य करती है, बल्कि उसकी छवि को धुँधला करनेवालों के विरुद्ध संघर्ष भी करती है। उसके प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मार्ग प्रशस्त करती है।

### 3.2.3. दूसरी परंपरा की खोज का प्रश्न

परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में परंपरा अथवा सांस्कृतिक विरासत से परिचय के दौरान ही हमें कुछ ऐसी मान्यताओं, मूल्यों, विश्वासों, धारणाओं, प्रवृत्तियों आदि की धाराओं से भी परिचय होता रहता है। जो 'मुख्य धारा' में नहीं होती है, अन्यान्य धारा अथवा धाराएँ होती हैं, जो मुख्यधारा के सांस्कृतिक विरासत के प्रश्नों की सीमाओं से जुड़े रहने के कारण प्रायः उधर ध्यान ही नहीं जा पाता है। या उनके अस्तित्व की उपेक्षा की जाती है। जबकि वास्तविकता यह है कि उन्हीं अवांतर अन्य कही जानेवाली धाराओं से मुख्य धारा को सर्वाधिक चुनौती मिलती है। नामवर सिंह के मतानुसार ये अवांतर धाराएँ, उपेक्षित धाराएँ, दबी हुई धाराएँ मूलतः सांस्कृतिक जीवन और साहित्य की अन्यान्य परंपराएँ हैं जिसे 'दूसरी परंपरा' के नाम से जाना जा सकता है।

'आलोचना' पत्रिका के संपादन के संदर्भ में रेखांकित करने योग्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि दूसरी परंपराओं के प्रश्न को व्यवस्थित ढंग से उठाने का श्रेय नामवर सिंह को जाता है और यह कार्य उन्होंने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से किया है। ध्यान देने की बात है कि 'आलोचना' के आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी-स्मृति-अंक (नवांक-49-50) में नामवर सिंह ने "दूसरी परंपरा की खोज" शीर्षक से अपना एक महत्वपूर्ण लेख लिखा। इस लेख से ही यह पदबंध बहस के केंद्र में आया। उन्होंने इस पदबंध का प्रयोग प्रारंभ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के कृतित्व के मूल्यांकन के संदर्भ में प्रयुक्त किया। और पहली बार 'आलोचना' पत्रिका में किया। नामवर सिंह इस लेख को विस्तार देते हुए आचार्य हजारीप्रसाद के कृतित्व के मूल्यांकन के लिए इसी शीर्षक से यानी 'दूसरी परंपरा की खोज' (1982 ई.) में पूरी पुस्तक लिखते हैं, जिसमें इस 'दूसरी परंपरा' का

अर्थ-स्वरूप आदि को स्पष्ट किया गया है। इस के उपरांत यह पदबंध बहस का रूप ग्रहण करता है। जिसके संदर्भ में यह बात कही गई कि इसके “केंद्र में आचार्यहजारी प्रसाद द्विवेदी हैं और प्रतिपक्ष में आचार्य रामचंद्र शुक्ल।”<sup>53</sup> और फिर इस बहस की कटु परिणिति हमें डॉ० रामविलास शर्मा की कृति ‘लोकजागरण और हिंदी साहित्य’ (1985 ई०) में दिखाई पड़ती है। वस्तुतः यह आगे चलकर ब्राह्मणवादी और गैरब्राह्मणवादी चिंतन धारा के रूप में अभिहित किया गया। जिसमें पहली परंपरा में वर्चस्वशाली ब्राह्मण आर्य जातियाँ आती हैं, जो वेद शास्त्र ज्ञान आदि से युक्त होती थी। दूसरी परंपरा में अनार्य शूद्र, शोषित, जातियाँ आती हैं, जो वेद शास्त्र आदि ज्ञान से वंचित रह गई थीं।<sup>54</sup> इस संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को ‘कबीर’ का मूल्यांकन करने के कारण तथा नाथ-सिद्धों की साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपरा को सहानुभूतिपूर्वक देखने के कारण उन्हें इन दूसरी परंपराओं के खोजी के रूप में देखा गया उन्हें दूसरी परंपरा के उद्गाता आचार्य के रूप में नामवर जी ने प्रतिष्ठित किया। “कबीर के माध्यम से जाति-धर्म-निरपेक्ष मानव की प्रतिष्ठा का श्रेय तो द्विवेदी जी को ही है। एक प्रकार से यह दूसरी परंपरा है।”<sup>55</sup> और “भारतीय साहित्य की यह दूसरी परंपरा है जो काल प्रवाह में भले ही गौण हो किंतु क्रांतिकारी परंपरा यही है; और द्विवेदी जी ने कबीर के माध्यम से उस क्रांतिकारी परंपरा को पुनः उद्घाटित करके ऐतिहासिक कार्य किया है।”<sup>56</sup> नामवर सिंह इस संदर्भ में ‘लोक धर्म’ पदबंध का प्रयोग करते हुए स्पष्ट करते हैं कि “‘लोक धर्म’ साधारण जनों के विद्रोह की विचारधारा है। इसे लोक धर्म कहने का कारण तो यह है कि यह उच्च वर्गों के शास्त्र के समान सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्क-पद्धति से सम्पन्न तथा व्यापक विश्व-दृष्टि के रूप में विकसित कोई सुसंगत और सुव्यवस्थित ‘विचार प्रणाली’ नहीं है।”<sup>57</sup> नामवर सिंह के मतानुसार दूसरी परंपरा की खोज का “प्रयोजन मुख्यतः पंडितों की इकहरी परंपरा की संकीर्णता का निदर्शन है।”<sup>58</sup> दूसरी परंपरा मूलतः उन ‘हाशिए पर पड़े हुए, दमित, शोषित, शास्त्रवंचित, अनार्य, नाग, गंधर्व आदि की परंपराएँ हैं जो ब्राह्मणवादी परंपरा के प्रभुत्व के कारण खड़ी नहीं हो सकी। नामवर सिंह की



इस दूसरी परंपरा संबंधी मान्यताओं का डॉ० रामविलास शर्मा ने जोरदार प्रत्याख्यान करते हुए दूसरी परंपरा को मुख्यतः पहली परंपरा के रूप में देखते हैं। और स्पष्ट करते हैं कि 'हिंदी में परंपराएँ तो अनेक हैं पर जो परंपरा गौरवशाली है, जिसे अपनी जातीय परंपरा कहकर हम गर्व कर सकते हैं वह एक ही है।'<sup>59</sup> और इस परंपरा के सूत्रधार 'महावीर प्रसाद द्विवेदी हैं, और उसके अंग आचार्य शुक्ल का आलोचना-कर्म है और यही हिंदी की अपनी गौरवशाली परंपरा है।'<sup>60</sup> इस प्रकार वह आचार्य हजारीप्रसाद की एक प्रकार से उपेक्षा करते हैं। 'दूसरी परंपरा' के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। वहीं दूसरी तरफ, प्रदीप सक्सेना अपने शोध निबंध में दूसरी परंपरा की खोज को प्रारंभ करने का श्रेय रांगेय राघव को देते हैं।<sup>61</sup> शिवकुमार मिश्र दूसरी परंपरा की बात को सही मायने में मार्क्सवादी समीक्षा के संदर्भ में रखकर देखने का आग्रह करते हैं।<sup>62</sup>

गौरतलब है कि नामवर सिंह अपने 'आलोचना' वाले लेख और 'दूसरी परंपरा की खोज' पुस्तक में दूसरी परंपरा की बात को जिस प्रकार से उठाते हैं, उससे ऐसी स्थिति बनी कि उसे प्रायः 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल बनाम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी' के रूप में ही ग्रहण किया गया नामवर सिंह इस 'दूसरी परंपरा की खोज' पुस्तक में प्रकारांतर से ध्वनित भी यही होता है। जब कि उनकी इस दूसरी परंपरा की धारणा का तात्पर्य आचार्य शुक्ल की परंपरा के बरक्स आचार्य द्विवेदी की कोई दूसरी, अलग परंपरा को खड़ा करना नहीं था बल्कि यहाँ इसका संबंध उन परंपराओं से है, जो इकहरी, प्रभुत्वशाली परंपरा के विरुद्ध किसी-न-किसी रूप में चलती रहती हैं, वह एकसाथ कई परंपराएँ भी हो सकती हैं। वह प्रभुत्वशाली परंपरा के प्रभाव के कारण उठ ही नहीं पाती हैं पर लोक से, जन से जुड़कर अपनी सत्ता को बचाए रखती हैं, जो कई बार विद्रोह करती हैं, और प्रभुत्वशाली परंपरा के समक्ष चुनौती पेश करती हैं। नामवर सिंह का मत है कि 'परंपरा इकहरी चीज़ नहीं है, कभी नहीं रही है, बल्कि परंपराएँ रही हैं, बहुवचन के रूप में परंपरा को लिया जाए और देखा जाए कि जो मूल्य जो मान्यताएँ, जो प्रतिमान, जो निष्कर्ष प्रभुत्वशाली रहे हैं... हम प्रभुत्वशाली

परंपरा को ही अपनी परंपरा कहते हैं, उसी की व्याख्या कुछ लोकोन्मुख बनाकर अपने अनुकूल उसमें थोड़ा सुधार और परिष्कार करते हुए उसे अपनी परंपरा कहते जा रहे हैं।”<sup>63</sup> और यह परंपरा इतनी प्रभुत्वशाली होती है, वही हमारे सहजबोध का, ‘कॉमनसेंस’ का अंग बन जाता है, जिसको चुनौती देना मुश्किल होता है। इसीलिए नामवर सिंह बार-बार कहते हैं कि दूसरी परंपरा का तात्पर्य “उस प्रभुत्वशाली निकष को चुनौती देने”<sup>64</sup> से है, उस प्रभुत्वशाली विचारधारा के कॉमनसेंस से “कितनी दूर तक मुक्त होने का प्रयास करता है और कहाँ मुक्त होने के प्रयास में वह पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाता।”<sup>65</sup> उनकी “मुख्य चिंता यह है कि जब तक उस प्रभुत्वशाली विचारधारा को हम चुनौती नहीं देते तब तक जनता के कवि... निचले या दूसरे दर्जे पर स्थान पाकर रह जाएँगे।”<sup>66</sup> और “यह चुनौती ऐतिहासिक स्तर पर भी दी जानी चाहिए; लेकिन उनकी पूरी सार्थकता आज के संघर्ष में ही संभव होगी। इसलिए मैंने दूसरी परंपरा का सवाल उठाया, जिसका नक्शा अभी पूरा नहीं हुआ है।”<sup>67</sup> स्पष्ट है कि नामवर सिंह के दूसरी परंपरा का तात्पर्य शुक्ल जी के विकल्प द्विवेदी जी को खड़ा करना उतना नहीं है जितना कि प्रभुत्वशाली विचारधारा के विरुद्ध चुनौती है। वह चुनौती किसी को भी दी जा सकती है और यह स्थिति तब स्पष्ट होती है जब नामवर सिंह ‘आलोचना’ के नवांक-83 (अक्टूबर-दिसं-1987 ई.) की संपादकीय - ‘कविता की दूसरी परंपरा’ के माध्यम अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हैं।

‘सुभाषितरत्न कोश’ और ‘सद्वृत्तिकर्णामृत’ के हवाले से संस्कृत के प्रभुत्वशाली काव्य संसार के सम्मुख संस्कृत कविता की ही लोकधर्मी परंपरा को ढूँढकर सामने लाते हैं। उसका संबंध योगेश्वर आदि कवियों से जोड़कर दिखाते हैं जिसको संस्कृत काव्य की आभिजात्य धारा में स्थान नहीं मिल पाया था। उन संस्कृत कवियों की लोकधर्मी परंपरा का संबंध नागार्जुन, त्रिलोचन से जोड़ते हैं। इस प्रकार ‘आलोचना’ पत्रिका ने ‘परंपरा के मूल्यांकन’ के संबंध में उस पक्ष को भी महत्ता देने का काम किया है, जो किसी समय की प्रभुत्वशाली विचारधारा, काव्य-प्रवृत्तियों के

कारण विलुप्त हो रहे थे। उन्हें दूसरी परंपरा के रूप में चिह्नित किया। उनका प्रभुत्वशाली विचारधारा के विरुद्ध विद्रोही काव्यप्रवृत्ति के रूप में चिह्नित किया, जिसका मूल्यांकन किसी-न-किसी कारण से हो नहीं पाया था। इसके अतिरिक्त दूसरी परंपरा का सवाल उठाकर नामवर सिंह ने उन परंपराओं की खोज और उनके अध्ययन का मार्गप्रशस्त किया जो पहली परंपरा या प्रभुत्वशाली विचारधारा में अंतर्भुक्त हो गई हैं। साथ ही उन परंपराओं को अपनी पहचान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभायी जो अब तक अपनी ही संभावनाओं से अनभिज्ञ हैं। यहाँ कहा जा सकता है कि 'आलोचना' पत्रिका ने हिंदी आलोचना में इस संदर्भ में एक युगांतरकारी प्रदेय को प्रस्तुत करने का महत्वपूर्ण माध्यम बनी।

### 3.2.3 साहित्य की परंपरा और कैनन का पुनर्निर्माण

परंपरा के मूल्यांकन संबंधी तीसरे आयाम यानी 'दूसरी परंपरा की खोज का प्रश्न' के अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि परंपरा इकहरी नहीं होती 'बहुवचनीय' होती है। सिर्फ एक परंपरा नहीं होती बल्कि 'परंपराएँ' होती हैं। मानव समाज में जिस प्रकार परंपराएँ एक नहीं हुआ करतीं, उसी प्रकार साहित्य की परंपरा भी एक नहीं हुआ करतीं, बल्कि साहित्य की भी अनगिनत परंपराएँ होती हैं। "जैसे रचना के क्षेत्र में हर सार्थक रचनाकार कहीं-न-कहीं अपने लिए एक परंपरा ढूँढता है, चिंतन के क्षेत्र में भी अपने लिए एक परंपरा ढूँढने की ज़रूरत आलोचक को महसूस होती है।"<sup>68</sup> इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक रचनाकार अथवा आलोचक के लिए साहित्य की परंपरा से जुड़ने के लिए उसे खुद का अपने रचनाकारों और आलाचकों की परंपरा से अपने लिए 'कैनन' का निर्माण करता है। इस प्रकार यहाँ स्पष्ट है प्रत्येक रचनाकार या आलोचक के पास 'परंपरा विरासत में अपने आप सहज ही प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है, बल्कि उसे आयास करके अर्जित करना पड़ता है। अर्जन के इस प्रयास में चयन अनिवार्य है। वस्तुतः यह चयन-वृत्ति स्वयं परंपरा की अवधारणा में अंतर्निहित है।"<sup>69</sup> इसलिए प्रत्येक रचनाकार अपने को किसी परंपरा के महत्वपूर्ण रचनाकार से

जोड़ता है, उसी प्रकार आलोचक भी अपने लिए किसी या कुछ आलोचकों के 'कैनन' का निर्माण करता है। हिंदी साहित्य की परंपरा में प्रत्येक महत्वपूर्ण आलोचक ने अपने लिए किसी-न-किसी तरह के 'कैनन' का निर्माण अवश्य किया है, यह अलग बात है कि उस कैनन को वह कितनी अच्छी प्रकार से निर्मित कर पाया है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति स्वयं उसकी 'कैनन' की निर्माण-प्रक्रिया में लक्षित होती है। नामवर सिंह का मत है कि "हिंदी आलोचना के क्षेत्र में इस तरह का पहला प्रयास है 'हिंदी नवरत्न'। यह 'नवरत्न' एक तरह का 'कैनन' ही है: श्रेष्ठ कवियों की तालिका।"<sup>70</sup> इसी क्रम में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में बहुत ही व्यवस्थित ढंग से हिंदी साहित्य की परंपरा से तीन महत्वपूर्ण रचनाकारों को अपने कैनन में जगह देते हैं जिसमें तुलसीदास, जायसी और सूरदास हैं। इसी प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 'साहित्य की परंपरा से 'कबीर' को चुनकर अपने कैनन का निर्माण करते हैं। हिंदी साहित्य की परंपरा में रचनाकारों और आलोचकों की दूसरे सबसे सशक्त 'कैनन' का निर्माण डॉ० रामविलास शर्मा ने किया है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, निराला आदि रचनाकारों-आलोचकों से उनके कैनन का निर्माण पूरा होता है। डॉ० रामविलास शर्मा से पूर्व इन रचनाकारों की 'छवि' महज रचनाकार अथवा धार्मिक प्रवृत्ति वाला रचनाकार, अथवा उपन्यासकार आदि के रूप में रही है जबकि रामविलास शर्मा ने इस बनी हुई या स्थापित प्रतिमा में उन्होंने नवीन प्रगतिशील आयाम भर दिए जो आज किसी भी आलोचक के लिए चुनौती है।<sup>71</sup> इसी प्रकार हमें यह देखना है कि 'आलोचना' ने भी अपने संपादकीय विवेक के आधार पर किस प्रकार के 'कैनन' का निर्माण किया है।

ध्यान देने की बात है 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से नामवर सिंह जिस कैनन का निर्माण करते हैं, उसमें प्रमुख आलोचक के रूप में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (नवांक-49-50) देखे जा सकते हैं। कवि-आलोचक के रूप में 'आलोचना' पत्रिका ने मुक्तिबोध की महत्ता को

उद्घाटित करने में अपनी महत्वपूर्ण निभाई। नामवर सिंह के 'कैनन' के सबसे सशक्त पक्ष के रूप में भी इसे देखा जा सकता है। नामवर सिंह ने 'नागार्जुन' और 'त्रिलोचन' जैसे कवियों को संस्कृत कविता की दूसरी लोकोन्मुख, लोकधर्मी, काव्यपरंपरा जोड़कर दो महत्वपूर्ण कवियों को अपने 'कैनन' में स्थान दिया।

मध्यकालीन कवियों में आचार्य हजारी प्रसाद के प्रेरक रचनाकार कबीर इनके 'कैनन' के ही प्रतिमान रचनाकार हैं। 'आलोचना' पत्रिका का नागार्जुन विशेषांक (नवांक-56-57) जिसमें नामवर सिंह ने 'कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता' शीर्षक से संपादकीय लिखकर उनके महत्व को प्रतिष्ठित किया, वहीं अपने 'कैनन' को सुव्यवस्थित किया। इसी प्रकार अपने 'कैनन' का विस्तार 'त्रिलोचन' की कविता पर अपना संपादकीय 'एक नया काव्यशास्त्र त्रिलोचन के लिए' (नवांक-82) लिख कर की। इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका साहित्य की परंपरा से कई रचनाकारों-लेखकों को नये ढंग से जोड़ने का काम करती है उसका माध्यम बनती है। जिसमें 'धूमिल', निर्मल वर्मा, श्रीकांत वर्मा हैं, वहीं पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतकों में जार्ज लूकाच, रेमंड विलियम्स, लूसिए गोल्डमान, हर्बर्ट मारकूस आदि से हिंदी साहित्य की परंपरा को जोड़कर हिंदी आलोचना को समृद्ध बनाने का कार्य करती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' पत्रिका ने 'परंपरा के मूल्यांकन' के संदर्भ में सबसे अधिक संघर्ष 'परंपरा का सही चेहरा: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता', के लिए किया है। स्पष्ट है कि परंपरा का मूल्यांकन सांस्कृतिक विरासत की सही पहचान तथा उसकी 'विगत महत्ता एवं वर्तमान अर्थवत्ता' के संदर्भ में करना चाहिए, जिसके लिए 'आलोचनात्मक रुख' अपनाना होता है, साथ ही उसके अतीत की अतीतता को बनाए रखने के लिए उससे अपना 'पार्थक्य' भी बनाना अपेक्षित है। परंपरा के मूल्यांकन के संबंध में वस्तुतः यही

वैज्ञानिक दृष्टि है। कहने की ज़रूरत नहीं कि 'आलोचना' पत्रिका ने परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में इसी दृष्टि को अपना आदर्श बनाया है। 'आलोचना' पत्रिका का परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में इस महत्वपूर्ण अवदान को अवश्य रेखांकित किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त उपरोक्त अध्ययन से हमें स्पष्ट हुआ है कि नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' अपनी सांस्कृतिक विरासत की न सिर्फ सही तस्वीर प्रस्तुत करने का कार्य करती है, बल्कि उसकी छवि को धुँधला करने वालों के विरुद्ध संघर्ष भी करती है। इसके लिए दूसरी परंपराओं की खोज एवं अपने सांस्कृतिक विरासत से परिचय कराने का कार्य करती है। उसके प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मार्ग प्रशस्त करती है। इस प्रकार नामवर सिंह संपादित 'आलोचना' पत्रिका का वैज्ञानिक चिंतन एवं उसके लिए वैज्ञानिक वातावरण निर्माण की प्रक्रिया में अपना महत्तम योगदान देती है।

## संदर्भ :

1. इस संदर्भ में द्वितीय अध्याय 'मार्क्सवादी आलोचना की नई बहसों और 'आलोचना' में मार्क्सवादी आलोचना के उद्भव पर विस्तार से चर्चा की गई है, विस्तार के लिए द्वितीय अध्याय दृष्टव्य है।
2. अवस्थी, रेखा. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य. नई दिल्ली: मैकमिलन, 1978. प्रगतिशील लेखक संघ-लंदन के घोषणा-पत्र का अंश- परिशिष्ट-1 पृ. सं. 315-316. पर देखें- यहाँ लंदन में तैयार हुए 'प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणा-पत्र के सारांश रूप को प्रकाशित किया गया है।
3. आशुतोष कुमार. समकालीन कविता और मार्क्सवाद. नई दिल्ली: शिल्पायन, 2010 पृ. सं. 27.
4. डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण', में 'सरस्वती' पत्रिका को 'हिंदी की जातीय पत्रिका' कहा है। और 'सरस्वती' पत्रिका पर पूरा एक अध्याय लिखकर हिंदी नवजागरण में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका को स्पष्ट किया है। रामविलास शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1977. द्रष्टव्य- महावीरप्रसाद द्विवेदी और सरस्वती' शीर्षक अध्याय
5. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. "विवेक की पक्षधरता". साक्षात्कारकर्ता. अशोक वाजपेयी, सुदीप बनर्जी, उदय प्रकाश, संकलित- कहना न होगा. संपादन- समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 28.
6. मधुरेश. हिंदी आलोचना का विकास. द्वितीय संस. इलाहाबाद: सुमित प्रकाशन, 2004. पृ. सं. 143.
7. वही. पृ. सं. 146.
8. शर्मा, रामविलास. परंपरा का मूल्यांकन. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1981. भूमिका से उद्धृत.
9. वही. पृ. सं. 09.
10. वही. पृ. सं. 09.
11. वही. पृ. सं. 09.
12. वही. पृ. सं. 15.
13. वही. पृ. सं. 15.

14. मधुरेश. हिंदी आलोचना का विकास. द्वितीय संस. इलाहाबाद: सुमित प्रकाशन, 2004. पृ. सं. 146.
15. शर्मा, रामविलास. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य. द्वितीय संस- नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2002. पृ. सं. 266-267.
16. मधुरेश. हिंदी आलोचना का विकास. द्वितीय संस. इलाहाबाद: सुमित प्रकाशन, 2004. पृ. सं. 146-147.
17. पांडेय, मैनेजर. "हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना: कितनी मार्क्सवादी कितनी आलोचना". 'आलोचना' (नवांक-86) जुलाई-सित, 1988: पृ. सं. 12.
18. मिश्र, शिवकुमार. "मार्क्सवादी आलोचना के बुनियादी सरोकार और डॉ० रामविलास शर्मा." 'आलोचना' (नवांक-60-61) जनवरी-जून 1982: पृ. सं. 136.
19. मिश्र, शिवकुमार. "मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ." 'आलोचना' (नवांक-70) जुलाई-सित. 1984: पृ. सं. 45.
20. मिश्र, शिवकुमार, "मार्क्सवादी आलोचना के बुनियादी सरोकार और डॉ० रामविलास शर्मा." 'आलोचना' (नवांक-60-61) जनवरी-जून, 1982: पृ. सं. 136.
21. सिंह, नामवर. साक्षात्कार, "अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया". साक्षात्कारकर्ता. असद जैदी और मंगलेश डबराल. कहना न होगा. में संकलित. संपादक-समीक्षा ठाकुर-नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 141.
22. सिंह, नामवर. "परंपरा और मूल्यांकन का मार्क्सवादी पक्ष" -(व्याख्यान) 'पहल'-अंक फरवरी, 1984: पृ. सं. 98. नामवर सिंह ने यह व्याख्यान डॉ० रामविलास शर्मा की अध्यक्षता में दी थी. जिसका अविकल रूप में प्रस्तुती 'ज्ञानरंजन' जी के संपादन में 'पहल' में किया गया है।
23. वही. पृ. सं. 100-101.
24. 'विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' पदविन्यास नामवर सिंह का है। प्रेमचंद- स्मृति-अंक (नवांक-51-52) की संपादकीय का शीर्षक है। वहाँ से इसे ग्रहण किया गया है।
25. पांडेय, मैनेजर. "प्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचंद की प्रासंगिकता". 'आलोचना' (नवांक-51-52) अक्टू-1979, मार्च 1980 : पृ. सं. 137.
26. सिंह, नामवर, संपादकीय. "प्रेमचन्द: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता" 'आलोचना'



- (नवांक-51-52) : पृ. सं. 01.
27. वही. पृ. सं. 03.
  28. वही. पृ. सं. 03.
  29. वही. पृ. सं. 03.
  30. वही. पृ. सं. 04.
  31. पाडेय, मैनेजर. "प्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचंद की प्रासंगिकता". 'आलोचना' (नवांक-60-61)  
: पृ. सं. 140-141.
  32. सिंह, नामवर. संपादकीय. "प्रासंगिकता का प्रमाद". 'आलोचना' (नवांक-67) अक्टू-दिसं., 1983  
: पृ. सं. 05.
  33. वही. पृ. सं. 05.
  34. वही. पृ. सं. 05.
  35. वही. पृ. सं. 05.
  36. वही. पृ. सं. 05.
  37. वही. पृ. सं. 05-06.
  38. वही. पृ. सं. 06.
  39. मिश्र, शिवकुमार. "मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ: हिंदी आलोचना के संदर्भ में".  
'आलोचना' (नवांक-70) जुलाई-सितं., 1984 : पृ. सं. 46.
  40. वही. पृ. सं. 46.
  41. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. "अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया". साक्षात्कारकर्ता. असद  
जैदी और मंगलेश डबराल. कहना न होगा. संपा. समीक्षा ठाकुर-नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन,  
1994. पृ. सं. 141.
  42. सिंह, नामवर. संपादकीय. "प्रासंगिकता का प्रमाद". 'आलोचना', (नवांक-67) अक्टू-दिसं.,  
1983: पृ. सं. 06.
  43. सिंह, बच्चन. "प्रासंगिकता के प्रश्न पर एक संवाद" 'आलोचना' (नवांक-68) जनवरी-मार्च,  
1984 : पृ. सं. 111.
  44. नामवर सिंह ने 'पार्थक्य के सिद्धांत' का सुझाव डॉ० रामविलास शर्मा की अध्यक्षता में दिए गए

- व्याख्यान के अंतर्गत भी दिया था। दृष्टव्य-‘पहला’-26 संपा. ज्ञानरंजन. फरवरी, 1984 में “परंपरा और मूल्यांकन का मार्क्सवादी पक्ष”- रामविलास शर्मा और नामवर सिंह के दुर्लभ व्याख्यान”. शीर्षक स्तंभ- पृ. सं. 83-119 तक.
45. सिंह, बच्चन. “भारतेंदु हरिश्चंद्र : व्यक्तित्व के अंतर्विरोध”. ‘आलोचना’ (नवांक-79) अक्टू-दिसं- 1986 : पृ. सं. 15.
46. वही. पृ. सं. 16.
47. मिश्र, शिवकुमार. “राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेंदु” ‘आलोचना’ (नवांक-79) अक्टू-दिसं., 1986 : पृ. सं. 28.
48. वही. पृ. सं. 29.
49. इस संदर्भ में नामवर सिंह का साक्षात्कार “अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया” शीर्षक से- ‘कहना न होगा’ पुस्तक में संकलित हैदेखेंउन्होंने कहा है कि हिंदी नवजागरण को कुछ लोग हिंदू नवजागरण’ के रूप में चित्रित कर रहे हैं. उसका प्रव्याख्यान करने के लिए उन्होंने यह संपादकीय लिखा था। पृ. सं. 140 पर.
50. मिश्र, शिवकुमार. “नवजागरणकालीन साहित्य के चरित्र का एक विशिष्ट पहलू”. ‘आलोचना’ (नवांक-82) जुलाई-सितं., 1987 : पृ. सं. 54.
51. वही. पृ. सं. 53.
52. वही. पृ. सं. 49.
53. मधुरेश. हिंदी आलोचना का विकास. द्वि. संस. इलाहाबाद : सुमित प्रकाशन, 2004. पृ. सं. 186.
54. दृष्टव्य, वीरभारत तलवार की ‘सामना’ पुस्तक में आचार्य हजारी प्रसाद की आलोचना-दृष्टि पर लिखा गया लेख. स्वयं नामवर सिंह की ‘दूसरी परंपरा की खोज’ पुस्तक में इस तथ्य को आसानी से देखा जा सकता है।
55. सिंह, नामवर. दूसरी परंपरा की खोज. चौथी आवृत्ति-पेपर बैक्स. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2003, पृ. सं. 13.
56. वही. पृ. सं. 55.
57. वही. पृ. सं. 81.
58. वही. पृ. सं. 90.

59. शर्मा, रामविलास. भूमिका. लोकजागरण और हिंदी साहित्य. संपा. रामविलास शर्मा. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1985, पृ. सं. 93.
60. देखें- वही. पृ. सं. 93.
61. दृष्टव्य- प्रदीप सक्सेना का लेख "अर्थात् मार्क्सवादी आलोचना के उन भूले-बिसरे पन्नों पर ऐसा क्या लिखा है?". संपा. प्रदीप सक्सेना. 'पहल' 'मार्क्सवादी आलोचना अंक : (64-65) अप्रैल-जून-2000 : पृ. सं. 287-350 तक.
62. मिश्र, शिवकुमार. हिंदी आलोचना की परंपरा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2002. पृ. सं. 25.
63. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. "दूसरी परंपरा का प्रश्न". साक्षात्कारकर्ता. सुधीर रंजन सिंह. संकलित कहना न होगा. संपा. समीक्षा ठाकुर, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1994. पृ. सं. 181.
64. वही. पृ. सं. 186.
65. वही. पृ. सं. 204.
66. वही. पृ. सं. 184.
67. वही. पृ. सं. 184.
68. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. "विवेक की पक्षधरता". साक्षात्कारकर्ता. अशोक वाजपेयी, सुदीप बनर्जी और उदय प्रकाश. कहना न होगा. में संकलित पृ. सं. 28.
69. सिंह, नामवर. संपादकीय. "प्रासंगिकता का प्रमाद". 'आलोचना', (नवांक-67) अक्टू-दिस; 1983 : पृ. सं. 05.
70. सिंह, नामवर. साक्षात्कार. "रूपवाद, परंपरा और प्रतिबद्धता. " साक्षात्कारकर्ता. वीरेशचंद्र. संकलित, बात बात में बात. संपा. समीक्षा ठाकुर. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2006 : पृ. सं. 191.
71. दृष्टव्यनामवर सिंह का व्याख्यान. "परंपरा और मूल्यांकन का मार्क्सवादी पक्ष". पहल-26 फरवरी-1984, संपा. ज्ञानरंजन इस व्याख्यान में डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने कौन को किस प्रकार बनाया उसमें कौन से अर्थ भरे हैं उसे विस्तार समझाया गया है। देखें- पृ. सं. 83-119 तक.